शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : १०

अहो! सर्वज्ञदेव कथित स्वतंत्रता

आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप होने से निरंतर जानना ही उसका कार्य है। वह ज्ञान की क्रिया आत्मा के आधार से होती है। ध्यान पूर्वक श्रवण करें तो सबकी समझ में आये, ऐसी यह बात है। सभी आत्मा ज्ञातास्वभावी हैं, भगवान हैं, अविनाशी ज्ञान उसका स्वरूप है। कोई भी आत्मा स्त्री, पुरुष या पशु आदिरूप नहीं है, राग-द्वेष मोहरूप नहीं है, क्षणिक स्वांग के जितना नहीं है। भगवान! अपनी बात तेरी समझ में न आये, ऐसा नहीं हो सकता। जो भी कोई सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं, उन्होंने पहले यथार्थ प्रतीति की, पश्चात् अंतर में पूर्ण स्वभाव के आश्रय से एकाग्रता करके पूर्ण निर्मलदशा-परमात्मदशा प्रगट की है। इसी रीति में अनंत सिद्ध परमात्मा हुए हैं। तीर्थंकर भगवान ने साक्षात् केवलज्ञान से जन्म-मरण का नाश करने का-पवित्र मुक्तदशा प्रगट करने का सत्य उपाय बताया है। उन्होंने निष्कषायी करुणा से जो निर्दोष उपदेश दिया है, वह जगत के प्राणी समझ सकें, ऐसा ही दिया है। समझ न सकें, पुरुषार्थ से न कर सकें, जड़कर्म रुकावट डाल सकें, ऐसा उन्होंने कुछ नहीं बतलाया भगवान ने तो सर्वत्र वीतरागता, यथार्थता तथा विश्व के तत्त्वों की स्वतंत्रता स्वीकार करने के लिए कहा है।

(पूज्य स्वामीजी के प्रवचन से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२२५]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री प्रवचनसारजी शास्त्र—

यह अनमोल ग्रंथराज श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट की ओर से श्री समयसारजी के माफिक मोटे व बढ़िया कागज पर दोरंग में छपने का कार्य शुरु हो गया है।

आत्मप्रसिद्धि ग्रंथ—

इस ग्रंथ में श्री समयसारजी में से ४७ शक्तियों के ऊपर पूज्य कानजीस्वामी के विस्तृत प्रवचनों का संग्रह है जो कि अच्छे बढ़िया कागज पर श्री दिगम्बर जैन सेठी ग्रंथमाला बम्बई की ओर से छपना शुरु हो गया है।

समयसार शास्त्रजी

परमागम श्री समयसारजी शास्त्र जो अत्यंत अप्रतिबुद्ध अज्ञानियों के लिये भी समझानेवाला शास्त्र है। जिसमें चारों अनुयोगों की बात आ जाती है। यह ग्रंथ पहले दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल बंबई द्वारा १५०० छपवाया गया था जो कि १ मास में ही सारा बिक गया एवं फिर भी अत्यधिक मांग होने से श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ की ओर से तृतीयावृत्ति छपकर पूर्ण हो गया है, १० दिन में शीघ्र ही धर्म जिज्ञासुओं की सेवा में प्रस्तुत किया जावेगा।

—प्रकाशक

परम स्वभाव की भावना

प्रभु! अपनी स्वतंत्र प्रभुता तूने कभी सुनी नहीं। वर्तमान एक-एक अवस्था के पीछे पूर्ण पवित्र गुणों की अपार शक्ति अखंड स्वभावरूप से भरी है, उस सत् की बात अपूर्व भाव से अंतर से उछलकर तूने श्रवण नहीं की; तेरा माहात्म्य तुझे नहीं आया। जिसने पूर्ण अविकारी स्वभाव का ही आदर किया, उसको स्वप्न में भी संसार की कोई बात नहीं रुचती। (—समयसार, भाग-१ से)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

फरवरी : १९६४ ☆ वर्ष उन्नीसवाँ, माघ, वीर नि०सं० २४९० ☆ अंक : १०

अनंत गुणों के सुख को धारण करनेवाला

चैतन्य-रत्नाकर

तारीख ३०-८-६२ सोनगढ़

श्री समयसारजी में ४७ शक्तियों का वर्णन, शक्तिवान आत्मा पर दृष्टि देने के लिये है।

भगवान आत्मा का सुख अंतर में है। शरीर, वाणी, मन तथा व्यवहार-विकल्प में सुख नहीं है। प्रत्येक आत्मा में अनाकुलतास्वरूप सुख शक्ति है, वह अविनाशी आनंद को देनेवाली है। आत्मा सत् शाश्वत वस्तु है, उसमें ज्ञान आदि शक्तियों के साथ आनंदशक्ति भी है। अनंत आनंदमय शाश्वत आत्मा पर दृष्टि देने से पर्याय में जो दु:ख है, उसका नाश होकर द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में आनंद व्याप्त होता है, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्-आनंद कहा जाता है। सुख प्रत्येक गुण का है—ज्ञान का सुख, दर्शन का सुख, वीर्य का सुख, अस्तित्व का सुख, वस्तुत्व का सुख—ऐसा अनंत गुणों का सुख है। उस सुख को धारण करनेवाले आत्मा को दृष्टि में लेकर उसकी निर्विकल्प श्रद्धा करना, स्वसन्मुख होना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। अनंत गुणों को धारण करनेवाले आत्मा पर अखंड दृष्टि होते ही जो अनंत काल में नहीं हुआ, ऐसे सम्यक् आनंद का उत्पाद, दु:खरूप मिथ्यात्व का नाश होता है। इसका नाम सम्यग्दर्शनरूप प्रशंसनीय धर्म है। स्वतंत्रता से ही कर्ता, कर्म, करणादि छहों कारक प्रत्येक गुण की पर्याय में प्रत्येक समय में हैं। स्वद्रव्य के आश्रय से सुखगुण की आनंददशा प्रगट की, वह प्रत्येक गुण की पर्याय में सुख प्रगट करती है। अतीन्द्रिय आनंदरूप कार्य का कारण अनंत गुणों का धारक आत्मा ही है। शरीर की क्रिया या शुभरागरूप व्यवहार के कोई भेद सुखरूप कार्य के कारण नहीं बनते। इसमें व्यवहार की उपेक्षा होती है और

व्यवहार के अभावस्वभावरूप परिणमन करता हुआ यह आत्मा ही सुखरूप होता है। अनंत सुख की निधि आत्मा में जो ज्ञातापने की धीरता से ध्येय को पकड़ ले, वह धीर है, सम्यग्दृष्टि है।

ज्ञानानंद लक्षण से प्रसिद्ध अनंत गुण के धाम ऐसे आत्मा को जाना, उसका वेदन किया, इसका नाम सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान है। पर से, राग से निरपेक्ष अनंत शक्ति का पिंड आत्मा है, उसकी रुचि-ज्ञान और उसमें स्थिर होने को मोक्षमार्ग कहते हैं। यहाँ शक्तिवान को बतलाकर मोक्षमार्ग समझाते हैं। मोक्षमार्ग कार्य है; वह कहाँ से प्रगट होता है ?-अंतर में शक्तिवान एक चैतन्यस्वरूप में दृष्टि और एकाग्रता से ही प्रगट होता है, अन्य किसी उपाय से वह प्रगट नहीं होता। पराश्रय से धर्म होगा, ऐसा भगवान ने कभी देखा नहीं है। अंतर्मुखदृष्टि द्वारा अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आवे, उसके सामने इन्द्र-इन्द्राणी का कल्पित सुख सड़े हुये तृण के समान लगता है। चैतन्य जागृत होते ही आनंद की उत्पत्ति होती है। जैसे समुद्र जब मध्य बिंदु में से उछलता है, तब किनारे पर ज्वार आता है, उसीप्रकार पर से भिन्न अनंतगुणों से भरपूर चिदानंद का आदर करके महामध्यस्थ चैतन्य की दृष्टि अंतर एकाग्रता में उछाले तो उसकी पर्यायरूप किनारे पर अतीन्द्रिय आनंद का ज्वार आता है। इसमें सापेक्षता कहाँ आयी ? शक्तिवान में सावधानी से देखने पर पर्याय में सहजानंद उछलता है, उसे निमित्त या व्यवहार का आधार किंचित् भी नहीं है; क्योंकि चैतन्य महाप्रभु स्वयं ही अपार-पूर्ण आनंद शक्ति से भरा पड़ा है। दुनियाँ सुख के लिये हाय-हाय करती है। यहाँ से सुख प्राप्त करूँ, वहाँ से सुख प्राप्त करूँ, उपवास करूँ, व्रतों का पालन करूँ तो सुख होगा—इसप्रकार राग की वृत्ति में से सुख प्राप्त करना चाहती है। राग, वह धर्म नहीं है, तथापि उसमें धर्म मानते हैं, वे अधर्म में वास करते हैं। प्रभु ! तेरी लीला ही विलक्षण प्रकार की है। ज्ञानानंद के प्रेम की रुचि में पुण्य और निमित्त के प्रेम की रुचि का नाश हुए बिना नहीं रहता। पराश्रय की रुचि-पराश्रय (-व्यवहार) का प्रेम छोड़े बिना भगवान आत्मा की रुचि नहीं होगी। अनंत गुणों का भंडार ऐसे आत्मा की रुचि छोड़कर पुण्य की-शुभराग की रुचि में पड़ा है, वह व्यभिचारी है। अरे ! व्रत, दया, दान, भक्ति के शुभराग में लाभ मानकर रुक गया, वह बड़ा व्यभिचारी है। शुभराग को करने योग्य मानता है, वह रागादि के अकर्ता, ज्ञातास्वभावी भगवान को भूल गया है, उसकी दृष्टि बदल गई है। आत्मा, राग की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, वह अरागी, अकेला, आनंदमूर्ति है, उसमें दृष्टि देने से उसकी पर्याय में आनंद उछलता है, उस समय उसके साथ ज्ञान तथा सुखगुण

की पर्यायें भी अनंतगुणों के रूपसहित अनंतशक्तिवान में व्याप्त होती हैं, ऐसी अनंत शक्तियों से भरपूर आत्मा का अवलोकन किया करे, उसका नाम धर्म है।

लोग सुख चाहते हैं किंतु सुखरूप होते नहीं हैं, क्योंकि दु:ख के उपाय को ही सुख का उपाय मानते हैं। स्वयं माने हुए सुख के लिये शरीर को त्यागना (मरना) चाहते हैं, अग्नि से, विष द्वारा शरीर को छोड़कर सुखी होना चाहते हैं; इससे यह सिद्ध हुआ कि शरीर के बिना भी जीव अकेला सुखी होगा, ऐसा मानता है। यद्यपि उसका उसे ज्ञान नहीं है, किंतु सिद्धांत यह निकलता है कि—मैं शरीर आदि का ममत्व छोड़कर, ज्ञातामात्र हूँ, ऐसी समता ग्रहण करके अकेला सुखी रह सकता हूँ। शरीर को छोड़ा, ऐसा कब कहा जायेगा ? कि द्वेष-दु:ख न हो; वह कब नहीं होगा ? कि मैं असंयोगी ज्ञानानंद हूँ इसमें दृष्टि और स्थिरता हो तो द्वेष-दु:ख नहीं होगा। दु:ख को दूर करता है, ऐसा कहना वह भी उपचार है। नित्य अशरीरी ज्ञानानंद हूँ—ऐसी अंतर में दृष्टि देने से उसके आश्रय से शांति होती है—इसके बिना व्रत, तप, उपवास करे तो करो किंतु उनसे किंचित् भी मिथ्यात्वादि दोष नष्ट नहीं होते। जैसे भीख मांगनेवाले धूर्त बाबा पैसा माँगते हैं और कोई न दे तो चाकू द्वारा अपना शरीर छेदकर खून बहाते हैं; उसीप्रकार देह की क्रिया से धर्म अर्थात् सुख चाहते हैं, वे त्रैकालिक ज्ञानानंद का तिरस्कार करनेवाले मिथ्यात्वादि आस्रव की भावना भाते हैं। आत्मा तो अनंत ज्ञानानंद का धाम है, उसकी दृष्टि से निर्मल सम्पत्ति प्रगट होती है। पूर्ण सुख स्वभाव का सत्कार-आदर, बहुमान हुआ, वहाँ उसकी दशा में एक ही गुण का आनंद उछलता है, ऐसा नहीं है, किंतु अनंत गुणों का आनंद साथ में उछल आता है, उसका नाम धर्म है; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सत्यमार्ग नहीं है। महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर परमात्मा भी इसी को मोक्षमार्ग कहते हैं। अनंत तीर्थंकर हो गये, वे भी यही मोक्षमार्ग कह गये हैं। अशुभ में न जाने के लिये बीच में व्रतादिक शुभराग आता है, किंतु वह उपचार (व्यवहार) से कथनमात्र मोक्षमार्ग है, सच्चा मार्ग तो वीतराग भाव ही है।

निराकुल स्वभाव के लक्ष्य से आकुलता का व्यय और निराकुलता की उत्पत्ति होती है, यह बात तेरे अधिकार में ही है। निर्मलभावरूपी कार्य करने के लिये तू स्वतंत्र है, इसलिये प्रसन्न हो! मेरी वस्तु मोह, राग-द्वेष, विकल्प, संयोग से रहित स्वाधीन है, अखंड ज्ञान-आनंद से भरपूर है। उसकी दृष्टि करके स्वरूप को प्रसन्नता से देखते ही; अंतर्मुख अवलोकन करते ही परम आनंद प्रगट होता है, उसके साथ अनंत शक्तियाँ उछलती हैं। ऐसे आत्मा का अनुभव कर! ऐसे आत्मा के ऊपर दृष्टि करके आनंद का स्वाद और पूर्ण स्वरूप का आदर हुआ, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

४७ शक्तियों का वर्णन भरतक्षेत्र में समयसार के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। तीर्थंकरों का पेट—सारभूत—मुख्य निधान समयसार में तथा आत्मा में है। द्रव्य की महत्ता, द्रव्यदृष्टि का वर्णन यहाँ क्यों लिया है कि पराश्रय की श्रद्धा-महत्ता छोड़कर एकरूप पूर्ण ज्ञानघन अनंतशक्तियों का पिंड आत्मा ऐसा है, उसे दृष्टि में लेने से अपूर्व ज्ञान-आनंद की प्राप्ति होती है।—ऐसा मार्ग स्पष्टरूप से यह शक्तियाँ बतलाती हैं; बाह्य में दौड़ने से आनंद की प्राप्ति नहीं होगी।

वीर्य शक्ति

वीर्य शक्ति—आत्मसामर्थ्य बल; जो आत्मस्वरूप में निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, आनंद आदि स्वसामर्थ्य की रचना करे, उसे वीर्य शक्ति कहते हैं। आत्मा शरीर, पुण्य-पापरहित है; उसमें वीर्य गुण क्या काम करता है ? अतीन्द्रिय ज्ञानमयस्वरूप की रचना करता है अर्थात् उसमें निर्मल श्रद्धा, ज्ञान, सुख की रचना करता है, परंतु शरीर की क्रिया, छह पर्याप्ति की रचना करे, वह आत्मा के वीर्य का कार्य नहीं है। आत्मा तो नित्य चैतन्यस्वभावी है, उसमें राग को रचने की योग्यता नहीं है। पंचमहाव्रत का विकल्प, वह शुभराग है, आस्रवतत्त्व है, उसे विषकुंभ कहा है; क्योंकि उसमें आत्मस्वभाव को रचने की योग्यता ही नहीं है। सुवर्ण से सोने के बर्तन बनते हैं, उसीप्रकार आत्मा के वीर्य गुण की संभाल करते ही-वीर्यवान अनंत गुणसंपन्न आत्मा के ऊपर दृष्टि देने से साथ में अनंत गुणों के निर्मल पर्यायों की उत्पत्ति हो, वह वीर्य का कार्य है। पुण्य, पाप, मिथ्यात्व की रचना करे, वह वीर्य का विपरीत कार्य है, उसे आत्मा का वीर्य नहीं कहते। अज्ञानभाव से रागादि की रचना करे, उसे आत्मा का वीर्य नहीं कहा जाता। अहो! भगवान! तुझे श्रुतामृत के घृत से भरपूर मिष्टान्न परोसा जा रहा है।

भगवान आत्मा का स्वभाव नित्य ज्ञानामृत का भोजन करने का है; ऐसे निजस्वरूप की आराधना करने से मैं अनंत बल का प्रकाश करनेवाला अपार वीर्य का धारक, अनंत गुणों का पिंड आत्मा हूँ—ऐसी दृष्टिपूर्वक निर्विकारी आत्मकार्य करे, वह आत्मा के वीर्य का कार्य है। आँखों की पलकें ऊपर-नीचे हों, उसमें आत्मा के वीर्य का कार्य है या नहीं ?—नहीं; जड़ के कार्य स्वतंत्ररूप से पुद्गलद्रव्य ही करता है। व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने किया, किंतु आत्मा पर का कार्य नहीं कर सकता। यह पुरुष बहुत बलवान है, एक मुक्का मारे तो ऐसा हो जाये, एक बात कह दे तो ऐसा हो जाये, अरे! यह तो स्थूल व्यवहारकथन है।

प्रश्नः—दूसरा कोई निमित्त तो हो सकता है न ?

उत्तरः—निमित्त का अर्थ इतना ही है कि जहाँ यह हो, वहाँ वह होता है, अर्थात् उपादान का निमित्त ने कुछ भी कार्य नहीं किया है, क्योंकि दोनों भिन्न हैं। स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उसे उपादान कहते हैं। उपादान ने कार्य किया, उस समय भिन्न वस्तुरूप सामने कौन था, वह बताने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन आता है, किंतु निमित्त से पर में कार्य हुआ, निमित्त ने कुछ प्रभाव, मदद, प्रेरणा की तो दूसरे का कार्य हुआ, यह बात त्रिकाल मिथ्या ही है।

अहो ! द्रव्यदृष्टि का वर्णन !

अहो ! मैं चैतन्यशक्ति का पिंड द्रव्य हूँ, उसमें दृष्टि देने से चैतन्य-रत्नाकर के महात्म्य का जो ज्वार आया, वह सबकी स्वतंत्रता सबमें देखता है; लेकिन जब तक संयोगीदृष्टि है, तब तक तूने स्वयं का भी स्वतंत्र-पूर्णरूप में अवलोकन नहीं किया।

प्रश्नः—बाह्य कार्यों के साथ जीव की इच्छा का संबंध है या नहीं ?

उत्तरः—नहीं, इच्छा ज्ञान का कार्य नहीं है; जो राग की रचना करे, उसे आत्मा का वीर्य नहीं कहा जाता।

आत्मा ज्ञान करे अथवा अज्ञानभाव से राग करे, लेकिन वह पर का कर्ता नहीं हो सकता। कोई जीव धनादि परवस्तु का संग्रह या त्याग कर सकते नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प उठे, उसे आत्मद्रव्य कभी भी कारण नहीं है। शुभाशुभराग के कारण में पर्यायदृटि से पर्याय कारण है, किंतु वह योग्यता द्रव्यस्वभाव में नहीं है। अहो ! तेरा नित्य चैतन्य ज्ञातास्वभाव है, विकल्प को छोड़ना या ग्रहण करना, वह तेरा कार्य नहीं है। अंदर एकता होते ही ज्ञान का वीर्य, दर्शन-सुख आदि अनंत गुणों का वीर्य एकसाथ उछलता है, वह सबमें वीर्यत्व बताता है, वह अनंतगुणों का आधार आत्मा है, उस पर दृष्टि देने से धर्म होता है। यह बात जैनमत के अलावा और कहाँ हो सकती है ?

स्वरूप को अवलोकन करने से परज्ञेय ज्ञात हो जाते हैं। निर्धनता-दरिद्रता हो और उस समय कहीं खोदने से सुवर्ण का भंडार मिल जाये तो कितना हर्ष-उत्साह हो जाता है, किंतु वह तो धूल है, स्वप्न समान है। मैं सबको जाननेवाला, असंग अविकारी अनंतगुणों का धाम हूँ; पराश्रय की दृष्टि छोड़कर निश्चयदृष्टि से निज को अवलोकन करते ही मैं अनंत गुणों का धारक ज्ञायक वीर हूँ, उसकी महिमा का परम आनंद उछलता है और उसके साथ ही अनंत गुणों का आनंद भी अनुभव में उछलता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव धर्म धुरन्धर थे, निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र में झूलते थे, उनको भी व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प आता अवश्य था, किंतु उसे आश्रय करनेयोग्य नहीं मानते थे। तथा उसमें वीर्य रुक जाये तो उसको आत्मा के वीर्य का कार्य न कहकर आस्रवतत्त्व में और पुद्गल द्रव्य में सम्मिलित कर देते थे। औदयिकभाव की रचना करे, वह आत्मतत्त्व नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानप्रधान कथन से औदयिकभाव को स्वतत्त्व कहा है, किंतु यहाँ द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा ज्ञाता-स्वभाव से भिन्न कहकर विरुद्धतत्त्व में (अजीव में) उसका समावेश कर दिया है। चैतन्यस्वभाव की सँभाल करने से वह रागादि का रचयिता भासित नहीं होता। चारित्र के दोष से राग की रचना होती है किंतु वह आत्मा का स्वभाव नहीं है; इसप्रकार राग से भेद करके अभेद स्वरूप का ही आदर कराया है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में अकर्तापने का पुरुषार्थ है। मैं ज्ञातातत्त्व हूँ, स्वभाव की दृष्टि हुई, वह स्वभाव का ही कार्य करती है—आत्मा को जागृत करती है, आत्मा में वीर्य नाम का गुण है, तथा पुरुषार्थ उसकी पर्याय है। क्रमबद्धपर्याय के निर्णय में अकर्तापने का, स्वभाव सन्मुख ज्ञातापने का पुरुषार्थ है, उसमें समस्त विभाव की उपेक्षा है। मैं क्रमबद्धपर्याय को जाननेवाला हूँ, ज्ञानस्वभाव के ऊपर दृष्टि पड़ी, वह स्वाभाविक कार्य करती है और आत्मा को प्रसिद्ध करती है।

नियति का निश्चय करनेवाला जागृत हुआ, वह स्वसन्मुख ज्ञातापने के पुरुषार्थ में लगा हुआ ही रहता है। द्रव्य-गुण और उसकी प्रत्येक समय की पर्याय, तीनों स्व से सत् हैं और पर से असत् हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों अकृत्रिम हैं—पर के द्वारा किये हुए नहीं है तथा पर के अकर्ता हैं; इसप्रकार नियत-स्वभावी धर्म को जाना, उसको अक्रम अनंतगुणों का पिंड एकरूप ज्ञायकभाव, सो मैं हूँ, उसमें दृष्टि देते हुए प्रचंडवीर्य उल्लसित होता है और वह केवलज्ञान का साधक चैतन्य-प्रभु की ज्ञानानंदमय तरंगों को उछालता हुआ पर के और राग के कार्यों का कर्ता नहीं होता। ज्ञान और आनंद की रचना करनेवाला हूँ, उसमें अभेददृष्टि द्वारा सावधान हुआ, वहाँ अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का पुरुषार्थ एक ही साथ है, और वह जीव केवलज्ञान के निकट आकर अल्प काल में केवलज्ञानी परमात्मा हो जाता है।

प्रत्येक समय में (१) स्वभाव (२) पुरुषार्थ (३) काल (४) नियति (५) कर्म—ये पाँचों समवाय एक ही साथ होते हैं। पराश्रय की श्रद्धा को छोड़कर, भेद को गौण करके, मैं त्रिकाल पूर्ण ज्ञायक स्वाधीन वस्तु हूँ, उसमें दृष्टि देकर अप्रतिहत धारा से जागृत हुआ मैं केवलज्ञानस्वभावी

हूँ—ऐसे निश्चयपूर्वक जागृत हुआ, वह सम्यग्दृष्टि है, वह जानता है कि बाह्य में सारी दुनिया प्रतिकूल हो तो भी मेरे ज्ञातास्वभाव में किंचित् खंड नहीं पड़ता, निरंतर अखंड ज्ञान-शांतिमय अंतरंग ज्ञानधारा में भंग नहीं पड़ता। इसप्रकार स्वरूप सामर्थ्य की रचना में सावधान हुआ, वह निरंतर निर्भय है, प्रसन्न है।

●●●

अनंत वीर्य द्वारा अनंत गुणों के सामर्थ्य की रचना को धारण करनेवाले आत्मा में आनन्द का स्रोत प्रवाहित करनेवाले, आत्मा का वैभव बतानेवाले आत्मवैभवशाली सत्पुरुषों की जय हो।

'मेरो धनि नहीं दूर दिशांतर,
मो महीं है मुझे सूझत नीके।'

निज परम वैभव का स्वामी चैतन्य प्रभु कहीं दूर देश में नहीं है, मेरे अंतर में है और अंतर्दृष्टि द्वारा देखने से मुझे सम्यक् प्रकार से दृष्टिगोचर होता है।

(कविवर श्री बनारसीदासजी)

अकार्यकारणत्त्व शक्ति

अहो! तेरी स्वाधीनता की आश्चर्यजनक महिमा

[वीर संवत् २४८८ भाद्रपद शुक्ला ५-६ के दिन श्री समयसारजी पर प्रवचन]

अनादि-अनंत प्रत्येक आत्मा अनंत शक्तियों का (गुणों का) पिंड है। उनमें से ४७ शक्तियों का वर्णन चल रहा है। इस परिपूर्ण शक्तिवान आत्मा में दृष्टि देकर एकाग्र होने से सुख और सुख के उपाय का प्रारम्भ होता है तथा उसी को स्वाधीनता का मार्ग कहा जाता है।

१४वीं अकार्यकारणत्त्वशक्ति भी अनंत शक्तियों के साथ ही भगवान आत्मा में सदा विद्यमान है। जो अन्य से नहीं किया जाता और अन्य को नहीं करता, ऐसे एक स्वद्रव्यस्वरूप अकार्यकारणत्त्वशक्ति आत्मा में है। राग द्वारा या निमित्त से जीव का कार्य होगा, पराश्रय-व्यवहार से शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपी कार्य होगा, तथा जीव से राग के कार्य-परपदार्थों के कार्य हों—ऐसी शक्ति आत्मा में नहीं है—ऐसी अनेकांतमय जैनधर्म की नीति है।

परद्रव्य-क्षेत्र-काल, वह कारण तथा (आत्मा में) सम्यग्दर्शनादि शुद्ध पर्याय, वह कार्य-ऐसा नहीं है। देखो, निमित्ताधीन दृष्टि को उड़ा दिया है। भगवान का समवसरण, महाविदेहक्षेत्र, चौथा काल, वज्रनाराचसंहनन (वज्रकाय) इत्यादि बाह्य सामग्री हो तो आत्मा में धर्मरूपी कार्य होगा, ऐसा नहीं है। व्यवहाररत्नत्रयरूप शुभभाव हो तो आत्मा में वीतरागता प्रगट होगी, ऐसा नहीं है, क्योंकि अकार्यकारणत्व गुण आत्मा में है, किंतु उससे विरुद्ध कोई गुण आत्मा में नहीं है।

शास्त्र में निमित्त के कथन बहुत आते हैं, ज्ञानी के समीप धर्मश्रवण, जातिस्मरण, वेदना, देवदर्शन आदि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के निमित्तकारण हैं - उसका अर्थ ऐसा है कि भेदज्ञान द्वारा राग से तथा पर से निरपेक्ष निश्चय चैतन्यदेव स्वयं जागृत हो, स्वसन्मुख हो - उस निश्चय सम्यग्दर्शन का नाम देवदर्शन है। जब आत्मा में निश्चयदशारूपी कार्य प्रगट किया, तब वहाँ निमित्त कौन था यह बताने के लिये उसको व्यवहारसाधन कहा जाता है। निश्चय के बिना व्यवहार किसका ?

प्रश्नः—जिनेन्द्रदेव के दर्शन से निद्धत और निकाचित् कर्मों का नाश हो जाता है—

इसका अर्थ भी इसीप्रकार से है कि निमित्त का ज्ञान कराने के लिये यह व्यवहारनय का

कथन है; किंतु कोई भी परद्रव्य तेरा कार्य करने के लिये अयोग्य ही है। अनंतबार निमित्तों के समीप में गया, किंतु कार्य क्यों नहीं हुआ ? घातियाकर्मों का उपशम, क्षयोपशम या क्षय वह कारण है और उसके द्वारा आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का कार्य होगा, ऐसा नहीं है। जीव ने ऐसा भाव किया तो उसे निमित्तकारण कहा जाता है। निमित्त, निमित्तरूप से है किंतु किसी भी समय में उपादान के कार्य का कारण हो सके, ऐसी उसमें शक्ति नहीं है, तथा उसके द्वारा आत्मा में कार्य हो सके, ऐसा कोई भी गुण आत्मा में नहीं है।

निचली भूमिका में राग होता है, परंतु नवतत्त्वों का विकल्प, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का राग, महाव्रत का राग, नयपक्ष आदि का राग है, इसलिये आत्मा में शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र है, ऐसा नहीं है; और भूमिकानुसार ऐसा राग बिलकुल न हो, मात्र छट्ठे गुणस्थान के योग्य (केवल) वीतरागता ही हो, ऐसा भी नहीं है। अंशतः बाधकदशा है; इसलिये साधकदशा है, ऐसा भी नहीं है। अपूर्ण ज्ञान है, इसलिये राग है, ऐसा नहीं है। यहाँ न्याय से कहा जा रहा है। जैसा वस्तु का स्वरूप है और उसकी जहाँ जो मर्यादा है, उसको जानने की ओर ज्ञान को सम्यक्‌रूप से ले जाना, उसे न्याय कहते हैं।

वीतरागभाव है, वही मोक्षमार्ग है; उस कार्य की उत्पत्ति के लिये कोई क्षेत्र, संयोग, काल कारण हो सकते हैं, ऐसा नहीं है। शास्त्र में व्यवहार के कथन आते हैं किंतु उसका अर्थ इतना है कि 'उपादान निजगुण जहँ, तहँ निमित्त पर होय'—ऐसा जानना, वह व्यवहार के ज्ञान का प्रयोजन है।

भगवान श्री अमृतचंद्राचार्यदेव कहते हैं कि तुझमें 'अकार्यकारणत्व' नाम का एक गुण ऐसा है कि पर से तेरा कार्य नहीं होता और तू पर का कर्ता नहीं है - स्वामी नहीं है। केवल अभूतार्थनय से निमित्तकर्ता कहना, वह तो कथनमात्र ही है, वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

श्री समयसारजी की ११वीं गाथा जिनशासन का प्राण है।

'व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
भूतार्थ आश्रित आत्मा, सुदृष्टि निश्चय होय है॥११॥'

क्या किसी से किसी अन्य का कार्य नहीं हो सकता? विरोध है—एकांत है, निमित्त-व्यवहार को उड़ाते हैं—ऐसा संयोगी दृष्टिवाले पुकार करते हैं। लेकिन यह सब जो ज्ञेयरूप से है, उसे कौन उड़ा सकता है? शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि अकार्यकारणत्त्वशक्ति और छः कारक—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरणशक्ति प्रत्येक द्रव्य में प्रत्येक समय में स्वतंत्र है, इसलिये अन्य कारणों की खोज करने की व्यग्रता व्यर्थ है।

आत्मा में तीनों काल स्वभावरूप अनंतशक्तियाँ हैं। शक्तिवान आत्मा में रागादि विभावभाव नहीं हैं, दया, दान, व्रत, तप, भक्ति का शुभराग आता है, किंतु उसकी मर्यादा आस्रव और बंधतत्त्व में है, संसार ही उसका फल है। शक्तिवान आत्मा में आस्रव है ही नहीं।

स्वभावरूप शुद्धकारणकार्यशक्ति तुझमें है। यदि तुझमें न हो तो कहाँ से आयेगी? श्री धवल शास्त्र में एक स्थान में निमित्त-व्यवहार का ज्ञान कराने के लिये ऐसा कथन किया है कि ज्ञानी को शुभभाव से कथंचित् संवर-निर्जरा होती है; छहढाला में आता है कि सत्यार्थ कारण, वह निश्चय है और वहाँ निमित्त बताना, सो व्यवहारकारण है तथा व्यवहार को निश्चय का कारण कहा है, उसका अर्थ यह है कि - इस भूमिका में इस काल में ऐसा ही निमित्त होता है, इतनी बात सत्य है; किंतु निमित्त से उपादान में कार्य होगा, शुभराग से आत्मा में धीरे-धीरे शुद्धि होगी, यह बात तीनों काल में असत्य है।

यहाँ तो ४७ शक्तियों द्वारा स्पष्ट कह दिया है कि प्रत्येक शक्ति स्वतंत्रता से सुशोभित अखंडित प्रतापसंपदा से परिपूर्ण है, पर के कारण-कार्यपने से रहित है तथा प्रत्येक शक्ति में दूसरी अनंतशक्तियों का भाव (रूप), प्रभुत्व और सामर्थ्य है, वह निश्चय से है। इससे यह सिद्ध होता है कि हे आत्मा! तेरी अनंत शक्तियों का कार्य-कारण तुझसे ही है, पर से नहीं है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल और परभाव के द्वारा तेरा कोई भी कार्य नहीं होता। प्रथम से ही इस परम सत्य की श्रद्धा करके, अनादि की मिथ्या श्रद्धा का त्याग करने की यह बात है।

जो कुछ भी नहीं समझते, ऐसे अज्ञानी जीवों को पहले पुण्य का उपदेश देना चाहिये; शुभरागरूप व्यवहार करते-करते धीरे-धीरे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी कार्य होगा, ऐसी मान्यता मिथ्या है और ऐसा उपदेश सम्यग्दर्शन का नाश करनेवाली विकथा है। मिथ्या मान्यता के समान दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है—इसकी लोगों को खबर ही नहीं है।

निमित्त तथा व्यवहार उनके स्थान में होते हैं, इसका निषेध नहीं है, तथा उनका ज्ञान कराने के लिये सच्चे निमित्त का, शुभभाव का स्वरूप बतलाया जाता है, किंतु कोई ऐसा मानें कि उसके द्वारा कल्याण हो जायेग, प्रथम शुभराग करने योग्य है तो वे जीव मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी के महापाप का बंध करते हैं। अज्ञानता कोई बचाव नहीं है।

विकथा के पच्चीस प्रकार कहे हैं; किंतु उन शब्दों में विकथा नहीं है; उसप्रकार का बुरा भाव, वह विकथा है। उसमें एक बोल दंसण भेदिनी कथा है, उसे मिथ्यात्वरूपी महापाप को पुष्ट करनेवाली पापकथा कहा है।

श्री समयसारजी, गाथा ३ में कहा है कि विश्व के समस्त पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्याय को ही प्राप्त होकर परिणमन करते हैं। अपने में एकाकार विद्यमान रहते हुए अपने अनंत धर्मों के समूह का स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यंत निकट एक आकाशक्षेत्र में विद्यमान हैं, फिर भी अपना अंशमात्र भी स्वरूप नहीं छोड़ते और पररूप परिणमन नहीं करते।

जाग रे जाग, तेरी अनंत चैतन्यऋद्धि, अक्षय गुणों का निधान तेरे स्वाधीन है, तुझमें एकसाथ है, निकट ही है, उसको देख। जड़कर्म और रागादि आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकते। आत्मा नित्य अरूपी है, वह जड़ शरीर को स्पर्श नहीं करता। सभी पदार्थ अपने में, अपने द्वारा, अपना कार्य अपने आधार से, अपने से ही करते हैं। अन्य का आश्रय करना, अन्य कारकों की अपेक्षा मानना, अपने से भिन्न पदार्थ की आवश्यकता मानना, वह व्यर्थ खेद है।

प्रत्येक के अपने स्वतंत्र कारण-कार्य हैं। स्वरूप के लक्ष से इतना निःसंदेह निर्णय करे तो—'मैं पर का करूँ, पर मेरा करे, मैं दूसरे को निमित्त बनूँ तो उसके कार्य होंगे।' इस मिथ्या अहंकार की महान आकुलता नष्ट होकर त्रिकाली ज्ञातास्वभाव की दृष्टिसहित सच्ची समता प्रगट होती है।

तीन काल और तीन लोक में प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता को देखनेवाले सर्वज्ञ भगवान फरमाते हैं कि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यंत अभाव है। स्वचतुष्टय में पर चतुष्टय किसी प्रकार से नहीं है। जो जिसमें नहीं है, वह उसका क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिये कोई भी द्रव्य किसी भी प्रकार से दूसरे को स्पर्श नहीं कर सकता। तेरा काम तुझमें है, तेरे आधीन है—ऐसा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वतंत्र स्वभाव तीनों काल है। सत्यस्वरूप का ज्ञान नहीं है, सत्य को समझना भी नहीं है और धर्म तो करना है। क्या धर्म पर में से आता है ?

वर्तमान की चतुराई से पैसे की प्राप्ति नहीं होती। चतुराई की पर्याय जीव में जीव के आधार से होती है और रुपयों की जाने-आने की या रुकने की पर्याय जड़ में जड़ के आधार से होती है।

अकारणकार्यत्व शक्ति आत्मा में तथा उसके गुण-पर्याय में व्याप्त है; उसमें 'कोई कार्य किसी अन्य से नहीं किया जा सकता।' इन शब्दों में महान मर्मरूप सिद्धांत भरा है। विश्व के समस्त द्रव्यों की स्वतंत्रता ऐसा बतलाती है कि—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का न तो कुछ कर सकता है और न करा सकता है; ऐसा गुण आत्मा की अनंत शक्तिरूप (स्वसामर्थ्य) धारण करके विद्यमान है।

अपना मोक्षमार्गरूपी कार्य देव-शास्त्र-गुरु और समवसरण में नहीं है, उनके द्वारा तेरा कार्य नहीं होता। दर्शनमोह का क्षय अपने द्रव्यस्वभाव का अवलंबन लेने से होता है। अपने में ऐसा यथार्थ प्रयत्न करे तो केवली, श्रुतकेवली को निमित्त कहा जाता है। निमित्त है, इसलिये उपादान में कार्य हुआ, ऐसा नहीं है। पर को कारण कहना, वह उपचार है, व्यवहार है, इसलिये वह सच्चा कारण नहीं है। अनंत गुण संपन्न स्वद्रव्य के ऊपर दृष्टि देने से शुद्धपर्यायरूपी कार्य प्रगट होता है, ऐसी शक्ति आत्मा में है; लेकिन पर का तथा राग का कारण-कार्य बने, ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। शुभराग कारण, व्यवहाररत्नत्रय कारण और निश्चयरत्नत्रय कार्य—ऐसा आत्मा में नहीं है। अहो! यह तेरे स्वाधीनता की आश्चर्यजनक महिमा है। यदि मुक्ति के उपाय के प्रारंभ में ही स्वाधीनता की श्रद्धा और यथार्थ पुरुषार्थ न हो तो उसे मुक्ति का क्या स्वरूप है, स्वतंत्रता का स्वरूप क्या है, हित का ग्रहण और अहित का त्याग किसे कहते हैं, सर्वज्ञ वीतरागदेव ने क्या कहा है, उसका कुछ भी ज्ञान नहीं है। संयोगीदृष्टिवाला स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं कर सकता। आत्मा की इच्छा से शरीर चले, शुभराग से वीतरागता हो - ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है।

शरीर की क्रिया हो, सामने पदार्थ हो, इन्द्रियाँ हों, प्रकाश हो, तो आत्मा को ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। पूर्व की पर्याय कारण तथा वर्तमान पर्याय उसका कार्य, ऐसा नहीं है। पर्याय में से पर्याय नहीं आती। परपदार्थ कारण और सम्यग्दर्शन कार्य, ऐसा नहीं है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा परभाव कारण और आत्मा में शुद्धता या अशुद्धता प्रगट होना, वह कार्य - ऐसा नहीं है। व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप शुभराग कारण तथा निश्चयरत्नत्रय कार्य, ऐसा कारण-कार्य आत्मा में तीनों काल में नहीं है। पहले व्यवहार बाद में निश्चय - ऐसा नहीं है। लहसुन खाते-खाते कस्तूरी की डकार आ जाये, ऐसा नहीं बनता; उसीप्रकार राग करते-करते वीतरागता हो जाये, ऐसा नहीं बनता।

मैं एक समय में अनंत शक्तियों का भंडार परिपूर्ण ज्ञानघन हूँ, उसमें दृष्टि देने से आत्मा ही कारण और उसकी शुद्धपर्याय कार्यरूप प्रगट होती है—ऐसी शक्ति आत्मा में है; किंतु अपनी पर्याय कारण और शरीरादि परपदार्थों में हलन-चलन आदि फेरफार हो, एक जीव के कारण दूसरे की पर्याय उत्पन्न हो जाये, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है। अपने से ही अपने आधार से अपना कार्य होता है, पर से अपना कुछ भी न हो और स्वयं पर का कुछ भी करने के लिये समर्थ न हो सके, ऐसी शक्ति आत्मा में है। इससे ऐसा समझना कि आत्मा का तीनों काल परवस्तु के बिना ही चल रहा है, अपने कार्य के लिये परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव की आवश्यकता पड़े, ऐसा आत्मा का

स्वरूप नहीं है। तथापि उससे विपरीत माने तो उसका मिथ्या अभिप्राय ही अनंत दु:खरूप संसार का कारण बनता है। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ पराश्रय की और राग की रुचि होती है, इसलिये उसको किसी भी प्रकार से राग का अभाव नहीं होता। अभिप्राय में निरंतर तीव्र राग-द्वेष होते हैं, इसप्रकार युक्ति से, परीक्षा द्वारा, वस्तु की मर्यादा को जानकर, पर के साथ मेरा किसी भी प्रकार से कारण-कार्य नहीं है। मैं तो पर से भिन्न और अपनी अनंत शक्तियों से अभिन्न हूँ—इसप्रकार निर्णय करके पर में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व की श्रद्धा छोड़कर सर्वथा राग की उपेक्षा करनेवाले ज्ञायक स्वभावसन्मुख दृष्टि करना, स्वसंवेदन ज्ञान और निजस्वरूप में लीनता करना ही सुखी होने का सच्चा उपाय है।

आचार्यदेव ने कहा है कि सुखी होने के लिये बाह्य साधनों को मिलाने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं। परतंत्र होने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्मा में अकार्यकारणत्वशक्ति सदा ही विद्यमान है, जिससे अपने कार्य के लिये अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं है। आत्मा, पर का कारण बने तो परद्रव्य परिणमन करेगा, ऐसा भी नहीं है। प्रत्येक आत्मा सच्चिदानंद प्रभु, देह से भिन्न है। मन, वाणी, शुभाशुभ विकल्पों से रहित और ज्ञानानंद से परिपूर्ण हूँ—इसप्रकार सम्यग्दृष्टि की दृष्टि शक्तिवान चैतन्यद्रव्य के ऊपर पड़ी है, वह दृष्टि स्वरूप को स्वतंत्र तथा अनंत शक्तियों के भंडाररूप अवलोकन करती है।

द्रव्य अर्थात् अनंत गुणों का पिंड; संख्या अपेक्षा से अपनी अनंत शक्तियों से (गुणों से) परिपूर्ण यह पदार्थ है और प्रत्येक समय में द्रव्य के आश्रय से अनंत गुणों की अनंत पर्यायें प्रगट होती हैं। गुण प्रगट नहीं होते। गुण सामान्य एकरूप नित्य रहते हैं, उनके विशेषरूप कार्य को पर्याय कहते हैं, वे अपने से हैं; और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल तथा परभाव से नहीं हैं, पर के कारणकार्यरूप से नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि जीव प्रारम्भ से ही स्व-पर को इसप्रकार से स्वतंत्र जानता है तथा अपनी अकारणकार्यत्व आदि अनंत शक्तियों को धारण करनेवाले अपने आत्मद्रव्य को अपनेरूप से मानता है, उसी को उत्कृष्ट-ध्रुव और शरणरूप मानता है। स्वद्रव्य को कारण बनाने से उसका शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दरूप कार्य प्रगट होने लगता है, किसी संयोग या शुभ विकल्प-व्यवहार को कारण बनाये तो शुद्धता प्रगट होगी, ऐसा नहीं है।

जैसे सुवर्ण सुवर्णरूप से है, अन्य धातुरूप से नहीं है। सुवर्ण में पीलापन, चिकनापन और वजन आदि एक ही साथ है; उसीप्रकार एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में अर्थात् एक समय में

अनंतानंत गुणों का समूह प्रत्येक आत्मा में अनादि-अनंत एक साथ है, इसलिये उसका आदि और अंत नहीं है; उसमें रही हुई अकार्यकारणत्वशक्ति ऐसा बतलाती है कि—आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, स्वच्छता, प्रभुता आदि गुण और उनकी विकासरूप पर्यायें प्रत्येक समय में उत्पाद-व्ययरूप उनसे ही हुआ करती हैं। जो हैं, वे उन्हीं से किये जा सकते हैं, इसलिये परद्रव्य, परक्षेत्र, परकालादि द्वारा नहीं किये जा सकते। ज्ञानी को निचली भूमिका में राग होता है, किंतु उस शुभराग से आत्मा के गुण की पर्याय का उत्पन्न होना-वृद्धि होना या ध्रुवरूप से रहना, ऐसा नहीं बनता। आत्मा स्वयं निज शक्ति से अखंड, अभेद है; उसके आश्रय से, स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ से भूमिकानुसार निर्विकल्प वीतरागभावरूप से अनंत गुणों की पर्यायों का उत्पाद प्रत्येक समय में हुआ ही करता है; उसका अस्तित्व, उत्पन्न होना, बदलना तथा ध्रुवरूप से रहना आत्मद्रव्य के आश्रय से ही है, पर के आश्रय से नहीं है।

व्यवहार के (-शुभराग के) आश्रय से भी अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव अथवा वीतरागभाव त्रिकाल में नहीं होता। राग तो चैतन्य की जागृति को रोनकेवाला विपरीत भाव है, आस्रव है। आस्रव तो बंध का ही कारण है; बंध का कारण, वह मोक्ष का कारण नहीं हो सकता। इस पर से सिद्ध होता है कि व्यवहार के आश्रय से किसी का शुद्धतारूपी कार्य होता ही नहीं। व्यवहार, साधन तथा निश्चय, साध्य—ऐसा कथन आये तो वहाँ ऐसा समझना कि इसका अर्थ ऐसा नहीं है किंतु स्वद्रव्य के आश्रय से ही वीतरागता प्रगट होती हे, वहाँ पर निमित्तरूप से किसप्रकार का राग था, उससे विरुद्ध प्रकार का राग निमित्तरूप से नहीं था, यह बताने के लिये उसको व्यवहार साधन कहा जाता है तथा इसप्रकार के रागरूप निमित्त का अभाव करके जीव वीतरागता प्रगट करता है, ऐसा बताने के लिये उसप्रकार के शुभराग को-व्यवहाररत्नत्रय को परंपरा मोक्ष का कारण कहा जाता है, किंतु वास्तव में राग वह वीतरागता का सच्चा कारण नहीं हो सकता - ऐसा प्रथम से ही निर्णय करना चाहिये।

जैसे लैंडी पीपर में परिपूर्ण चरपराहट और हरा रंग प्रगट होने की योग्यता शक्तिरूप से विद्यमान है, उसे घिसने पर चरपराहट का प्रगट अनुभव होता है, उसीप्रकार आत्मा में अनादि-अनंत अनंत गुण हैं, उनके साथ ही अकारणकार्यत्वशक्ति भी द्रव्य में, गुण में और पर्याय में व्याप्त है; उसकी स्वाधीनता की दृष्टि, स्वाधीनता का ज्ञान और आचरण न करके पराश्रय की रुचि रखकर अनंत बार द्रव्यलिंगी मुनि हुआ, उससे क्या हुआ ?

'द्रव्य संयम से ग्रैवेयक पायो, फेर पीछो पटक्यो।' अकेले शुभ में-पुण्य में अधिक समय तक कोई जीव रहता ही नहीं है, पुण्य के बाद पाप आता ही है।

शास्त्र पढ़े, हजारों लोगों को उपदेश दिया, किंतु अंतर में अपनी अविनाशी चैतन्य ऋद्धि और अनंत स्वाधीन शक्ति की महिमा का स्वीकार नहीं किया, इसलिये चौरासी के अवतार विद्यमान हैं।

अहो! अन्य किसी से तेरा कोई भी कार्य नहीं होता, और न तू किसी के लिये कारण है - यह संक्षिप्त महान मंत्र है। सम्यग्दर्शनादि कार्य तेरे स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट होते हैं। आत्मद्रव्य स्वयं ही कारणपरमात्मा हैं, उसके ऊपर दृष्टि करे तो शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट होती है। तीनों काल इसीप्रकार शुद्धिरूपी कार्य का उत्पन्न होना, वृद्धि होना और टिकना स्वद्रव्य के आश्रय से ही होता है; राग से या निमित्त से नहीं होता। इस बात का सर्वप्रथम निर्णय करना चाहिये। परीक्षा किये बिना परपद में अपना भला-बुरा मानकर दु:खी होता है। दु:खी होने के उपाय को भ्रांति से सुख का उपाय मान लेता है... जो भूल को समझेगा, वह उसे दूर कर सकता है। भूल अर्थात् अशुद्धतारूपी कार्य आत्मद्रव्य के आश्रय से नहीं होता, इसलिये अशुद्धतारूपी कार्य को आत्मद्रव्य का कार्य कहते ही नहीं हैं। यहाँ पर द्रव्यदृष्टि से आत्मद्रव्य का वर्णन चलता है। द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि, अर्थात् पुण्य-पाप की रुचि को छोड़कर-अनंत गुणों को धारण करनेवाला मैं आत्मद्रव्य हूँ, उसमें एकमेकपने की दृष्टि देने से ज्ञान-दर्शनादि तथा अकार्यकारणत्वशक्ति अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापती है, उसमें अन्य कारण नहीं है। व्यवहारकारण और निश्चयकार्य, ऐसा नहीं है। निश्चयरत्नत्रय तो शुद्धभाव है। वह अन्य के द्वारा किया जाये—ऐसा भाव नहीं है। शुद्धपर्यायरूपी कार्य का मैं कर्ता तथा वह मेरा कार्य है, किंतु शुभराग से वह कार्य होता है, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है तथा आत्मा राग की उत्पत्ति में कारण हो—ऐसा कोई भी गुण आत्मा में नहीं है। यदि ऐसा गुण हो तो रागादि कभी भी दूर होंगे ही नहीं।

क्या पर को कारण मानना ही नहीं? यह सूक्ष्म बात है। व्यवहारकारण तो कथनमात्र कारण है, सच्चा कारण नहीं है। वास्तव में जो निमित्त से कार्य होना मानता है, वह निमित्त को निमित्तरूप से न मानकर उसी को निश्चय, उपादान मानता है, जो दो द्रव्यों को एक माननेरूप मिथ्यात्व है।

जीव को अपनी पर्याय में जब तक पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति नहीं होती, तब तक दया, दान, व्रतादि का शुभराग भी आता है; किंतु किसी भी प्रकार का राग, आत्मा में शुद्धिरूपी कार्य का कारण हो सके, ऐसा गुण (ऐसी शक्ति) राग में नहीं है; और शुभराग से अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय से

आत्मा का निश्चयरत्नत्रयरूपी कार्य हो, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है। पुण्य से, भक्ति आदि के शुभराग से, व्यवहार से, भगवान की मूर्ति से अथवा साक्षात् तीर्थंकर भगवान के दर्शन से-वाणी से आत्मा को शांति या भेदज्ञान की प्राप्ति हो जाये, ऐसा कोई गुण किसी भी आत्मा में नहीं है। अहो! ऐसी स्पष्ट बात सुनकर राग की रुचिवाले पुकार करेंगे, लेकिन अरे प्रभु! .....सुन, तुझमें पूर्ण सामर्थ्य सहित अकार्यकारणत्व नाम का गुण है, वह यह प्रसिद्ध करता है कि अन्य से तेरा कोई कार्य किंचित् भी नहीं हो सकता। पर से मेरा कार्य और मुझसे पर का कार्य होता ही नहीं; किंतु स्व से ही स्व का कार्य होता है - यह त्रिकाल अबाधित नियम है। संयोग में एकताबुद्धि से देखनेवाला दो द्रव्यों की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं कर सकता। प्रत्येक द्रव्य शक्ति से ही ध्रुव रहकर उसकी पर्याय के कारणकार्यभाव द्वारा नवीन-नवीन पर्यायरूप कार्य को करता है। **यदि तुझमें पर के कार्य का कारण बनने की शक्ति हो तो सदा उसके कार्य में तुझे वहाँ उपस्थित रहना पड़ेगा; और पर से तथा राग से तेरा कार्य होता है—यह बात सत्य हो तो पर का संयोग और राग तेरे किसी भी कार्य से कभी भी पृथक् नहीं हो सकते।**

यदि व्यवहार से निश्चयधर्म प्रगट होता हो तो सदा व्यवहार का लक्ष्य रखकर संसार में रुकना पड़ेगा और स्वलक्ष्य-स्वसन्मुख होने का अवसर ही नहीं रहेगा, इसलिये एक ही सिद्धांत सत्य सिद्ध होता है कि भेदज्ञानपूर्वक मेरे अखंड ज्ञानानंदस्वरूपी स्वद्रव्य में एकाग्र होने से, स्व का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शनादि शुद्धिरूपी कार्य प्रगट होता है।

पराश्रय करते-करते स्वाश्रयरूप वीतरागता की उत्पत्ति होती हो तो वह तो अनंत काल से करता आया है, तो फिर स्वसन्मुख होने का क्या प्रयोजन है? परलक्ष्य से, परद्रव्य के अवलंबन से तो संकल्प-विकल्प की उत्पत्ति होती है, वह तो राग है। राग के लक्ष्य से अंतर में एकाग्रदृष्टि होती ही नहीं। जब तक व्यवहार से, निमित्त के आश्रय से कार्य होना मानता है, तब तक त्रिकाली स्वभाव में राग-व्यवहार नहीं है तथा स्वाश्रय से ही लाभ होता है, ऐसी यथार्थदृष्टि नहीं होती।

अकार्यकारणत्वगुण यह प्रसिद्ध करता है कि राग से तथा निमित्त से तेरा कार्य नहीं होता; यदि होता हो तो राग और निमित्तों का आश्रय करनेरूप कार्य को जीव छोड़े ही नहीं, किंतु अनंत ज्ञानी महापुरुष शुद्धनिश्चयनय के विषयरूप एक शुद्धात्मा में ही लीन होकर स्वाश्रय से ही मुक्ति के सुख को प्राप्त हुए हैं।

जो ऐसा मानता है कि मैं परद्रव्य के कार्य में कारण हूँ, वह अपने अभिप्राय में तीनों काल के अनंत परद्रव्यों के कार्यों में मैं कारण हूँ, ऐसा मानता है, इसलिये उसको पर का संग कभी छूटेगा ही नहीं।

प्रत्येक वस्तु अपने अनंत गुणों से ध्रुव रहकर प्रत्येक समय में नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न करती है—उत्पाद-व्यय और ध्रुवरूप से स्वयं ही वर्तती है। यदि पर के कारण उत्पाद-व्यय होते हों तो पर के संबंध से छूट सकेगा नहीं, तथा स्वभाव मं एकाग्रता भी नहीं कर सकता। राग मेरा कार्य है, ऐसा जो मानता है, वह राग की रुचि में पड़ा है। राग मेरा कारण और शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान मेरा कार्य अथवा राग-द्वेष-मोहभाव का मैं कारण - ऐसी मान्यतावाला संसार में परिभ्रमण करता ही रहेगा।

आत्मद्रव्य तो त्रिकाल अनंत अविकारी गुणों का पिंड है, उसमें एक अंश भी आस्रव-मलिनता का प्रवेश नहीं है, उसका ग्रहण-त्याग नहीं है - ऐसा निर्णय करे, तभी भावभासन सहित शुद्धात्मानुभवरूप सम्यग्दर्शन होगा।

आत्मा वीतरागता में कारण है और राग में कारण नहीं है - इसका नाम अनेकांत है। अपने दोष से क्षणिक पर्याय में राग होता है किंतु ज्ञानी उसे आत्मा का कार्य मानते ही नहीं, क्योंकि आत्मा विकारी और विकार जितना नहीं है। आस्रव और उसके कारण-कार्य को जीवतत्त्व नहीं माना गया। **आत्मद्रव्य राग में कारण हो, या राग का (व्यवहारत्नत्रय का) कारण हो तो राग करने का उसका स्वभाव सिद्ध हुआ, जो कभी भी नहीं छूट सकता। वस्तु एक समय में परिपूर्ण है। अबंध परिणामी आत्मा राग को और बंध को कभी स्पर्शता ही नहीं है; यदि राग को और बंध को स्पर्श करे तो आत्मा और आस्रव दो तत्त्व भिन्न सिद्ध नहीं होते।**

सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि मात्र स्वभाव के ऊपर होने से अपने को नये कर्म के बंधनरूपी कार्य मैं कारण हूँ, पर की क्रिया का मैं निमित्तकर्ता हूँ - ऐसा नहीं मानता। जीव पर के कार्य का निमित्तकर्ता हो तो परद्रव्यों के कार्यों के समय उसको उपस्थित रहना ही पड़ेगा, तथा वह वहाँ से नहीं छूट सकेगा। आत्मद्रव्य, राग का कारण हो तो वह राग से नहीं छूट सकेगा, ऐसा जाने तो ही ४७ शक्तियाँ तथा ऐसी अनंत शक्तियों को धारण करनेवाले आत्मा में दृष्टि करके अपूर्व अनुभव कर सकेगा।

अहो! अपूर्व कार्य क्या है, सत्य क्या है, द्रव्य, गुण, पर्याय तथा उनकी स्वतंत्रता किसप्रकार से है, यह कभी सुना ही नहीं। सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार मिथ्यात्वादि आस्रवतत्त्व क्या है तथा उससे रहित आत्मतत्त्व क्या है, ज्ञातापना क्या है - इन बातों को अज्ञानी जीवों ने अनंत काल में कभी लक्ष्य में लिया ही नहीं। कहा है कि—

दौड़त दौड़त दौड़त दोड़ियो, जेती मननी दोड़ जिनेश्वर, प्रेम प्रतीत विचारो ढूँ कड़ी।
गुरुगम लेजो जोड़ जिनेश्वर, धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग शुं।

जब तक अपनी दृष्टि संयोग और पुण्य-पाप में पड़ी है, तब तक अपनी कल्पना द्वारा पर से लाभ और हानि मानता है। परंतु सत्य-असत्य का निर्णय करके अपूर्व वस्तु अपने में ही है, स्वाश्रय करना ही मुक्ति का उपाय है, ऐसी दृढ़ता न करे तो उसने गुरु को पहिचाना ही नहीं है तथा उसने वीतरागदेव की आज्ञा नहीं मानी है। देव, शास्त्र, गुरु, ये परपदार्थ हैं, वे तेरे कार्य के कारण नहीं हो सकते तथा तुझमें ऐसी शक्ति नहीं है कि परद्रव्य के कारण तेरा कार्य हो जाये।

चैतन्यद्रव्य में अनादि-अनंत अनंत गुण विद्यमान हैं, जो द्रव्य के संपूर्ण भाग में और तीनों काल की संपूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, उसमें स्वयं कारणकार्यरूप से होना, पर से न होना, पर के आधीन कभी न होना, ऐसा गुण है और पर के लिये निमित्तकारण हो सके, पर से-राग से उसका कार्य हो सके, ऐसा गुण आत्मा में नहीं है। इस बात को अनेकांत प्रमाण से निश्चित करे, तभी पराश्रय से छूटकर स्वआश्रयरूप धर्म अर्थात् सुखी होने का उपाय कर सकता है।

श्री समयसारजी गाथा १०५ में यह बात आयी है कि आत्मा में कर्म बंधन में निमित्त होने का स्वभाव ही नहीं है, यदि हो तो छूट नहीं सकता। राग की उत्पत्ति करने का जीव का स्वभाव हो तो वह भी छूट नहीं सकता। भूमिकानुसार योग्य शुभराग होता अवश्य है, लेकिन शुभराग है; इसलिये चौथे-पाँचवें-छठे-सातवें गुणस्थानों में वीतरागता है, ऐसा नहीं है। पर के कारण, राग के आश्रय से, व्यवहार के आलंबन से वीतरागता का अर्थात् शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का उत्पन्न होना, वृद्धि होना या टिकना नहीं - ऐसा अकार्यकारणत्वशक्ति प्रसिद्ध करती है।

तेरा वीतरागविज्ञानघन स्वभाव है। जैसे लैंडी पीपर में पूर्ण शक्ति थी, वह प्रगट हुई है; उसीप्रकार तुझमें पूर्ण सामर्थ्य से भरपूर अनंतगुण सदा भरे पड़े हैं। जो है, उसमें एकत्व की दृष्टि करके स्वसन्मुख हो तो सम्यक् भावश्रुतज्ञान में तेरा सच्चा स्वरूप लक्ष्य में आ जायेगा। ध्रुव ध्येय प्राप्त करने की दृष्टि होने पर दृष्टि में से संसार बंधन छूट जाता है। इसप्रकार स्वाश्रय से ही जन्म-मरण तथा औपाधिकभावों का नाश होकर शक्ति में जो शुद्धता थी, वह प्राप्त होती है।

पर के कार्यों में निमित्तकर्त्ता की दृष्टिवाले को राग और विकार की रुचि रहती ही है, इसलिये उसे ज्ञातास्वभाव का अनादर और पर में कर्तृत्व का आदर है। इसलिये उसके फलस्वरूप एकेंद्रिय निगोद में उसे (निमित्तकर्ता को) जाना ही पड़ेगा, क्योंकि वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा न मानकर विरुद्ध ही मानता है, वह सर्वज्ञ को तथा उनकी वाणी के अर्थ को भी नहीं मानता। सत्य के विरोध का फल एकेन्द्रिय पशुपद है; किंतु आत्मा के स्वभाव में ऐसा पद है ही नहीं तथा उसके

कारणरूप गुण भी नहीं है। आत्मा में प्रमाण-प्रमेय शक्ति है, परंतु किसी के साथ कारण-कार्यरूप होने की शक्ति नहीं है - पर के कारण-कार्य के लिये प्रत्येक द्रव्य, गुण तथा उनकी पर्याय अयोग्य है, लायक नहीं है। श्री समयसारजी गाथा ३७२ तथा उसकी टीका में यह बात आचार्यदेव ने अत्यंत स्पष्ट कही है।

सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा मानता है कि कर्मबंध में मेरा निमित्तपना नहीं है, वर्तमान में चारित्र का अल्प दोष है, किंतु वह स्वाश्रय की दृष्टि का कार्य नहीं है। चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य का कार्य रागादि आस्रव नहीं है, कारण कि आस्रव का कार्य निश्चय से पर में जाता है।

अहो! तुझमें चैतन्यसामर्थ्य को सुशोभित करें, ऐसी अनंत शक्तियाँ, प्रतापवंत ऐसे स्वद्रव्य के आश्रय से भरी पड़ी हैं। ऐसे स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धपर्यायरूपी कार्य प्रगट होता है। परमार्थ का पंथ तीनों काल में एक ही प्रकार का होता है। यह तो अमृत परोसा जा रहा है। यह कठिन तथा उच्च भूमिका की बात नहीं है। समझने की योग्यतावाले चैतन्य को ही आचार्यदेव ने आत्म-ऋद्धि बतायी है। इसी का आदर, आश्रय, महिमा करे तो पराश्रय की पामरता छूट जायेगी।

अहो! चैतन्य.... तेरी ऋद्धि तुझमें ही है। अनंत, अपार ज्ञानानंद का भंडार तुझमें सदा विद्यमान है। 'ज्यां चेतन त्यां सकल गुण केवली बोले ऐम, प्रगट अनुभव स्वरूपनो निर्मल करो सप्रेम रे, चैतन्य प्रभु, प्रभुता तारी ते चैतन्य धाम माँ।'

प्रत्येक आत्मा असंख्य प्रदेशी है। उसका सच्चा स्वरूप शरीर से, राग से, पुण्य से-व्यवहाररत्नत्रय से भिन्न है। ज्ञानानन्दस्वभाव से तू अस्तिरूप है तथा तुझमें व्यवहार, निमित्त, पुण्य-पाप की नास्ति है, ऐसे स्वतंत्र अस्ति-नास्ति स्वभाव के कारण तू सदा स्वतंत्र है।

प्रत्येक आत्मा की अनंतगुण संपन्न प्रभुता शुद्ध है, उसमें एकत्व की दृष्टि करके, उसमें ही शुद्ध प्रेम करो। व्यवहार, निमित्त उनके स्थान में होते हैं किंतु उनकी रुचि छोड़े तभी पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से पूर्ण स्वरूप की रुचि और सम्यग्दर्शन होगा। दूसरे किसी भी प्रकार से दुःख से मुक्त हुआ नहीं जा सकता। बाह्य में पुण्य में, देह की क्रिया में, राग में अंशमात्र भी चैतन्य का अस्तित्व नहीं है। बाह्य में तो हो-हा, मान-बड़ाई तथा काम-भोग-बंधन की बात ही सुनने में आयेगी।

अरे! भगवान आत्मा, तू पर के कारण-कार्यरूप से नहीं है। यह बहुत ही सुगम सिद्धांत है। समयसारजी में ४७ शक्तियों का वर्णन करके ४७ कर्म प्रकृतियों का नाश तथा सर्वज्ञपद को प्राप्त

करने का उपाय बतला दिया है। भेदज्ञान द्वारा प्रथम से ही श्रद्धा में सर्वप्रकार के राग का त्याग और सर्वज्ञ-वीतरागस्वभाव का आदर करने की यह बात है। राग होने पर भी ज्ञानी उसे हेयरूप से जानता है। जो किसी भी प्रकार के राग को हितकर मानता है, परद्रव्य से लाभ-हानि का होना मानता है, मैं पर का कार्य कर सकता हूँ—ऐसा मानता है, उसे आत्मा की एक भी शक्ति की प्रतीति नहीं है।

अरे प्रभु! एक बार स्वतंत्रता की श्रद्धा तो कर! मेरा आत्मा राग का कारण नहीं तथा राग के कारण से, निमित्त से शुद्धतारूपी कार्य हो जाये, ऐसा कोई गुण मुझमें नहीं है। जो राग से, निमित्त से लाभ मानता है, उसे सम्यग्दर्शन नहीं है; सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, चारित्र, निश्चय या व्यवहार कुछ भी नहीं होता।

अनंतकाल के बाद बड़ी कठिनाई से इस अत्यंत दुर्लभ अवसर में सत्य स्वरूप श्रवण करने को मिलता है, तथापि उसकी उपेक्षा करता है कि यह तो निश्चयनय का कथन है। धर्म के नाम से बाह्य में खूब धन खर्च करे, किंतु व्याख्यान सुनते समय निद्रा आये तो वह सत्य-असत्य का निश्चय कैसे करेगा? और अंतर में स्वसन्मुख होकर यथार्थ परिणमन भी कैसे करेगा?

आत्मा आदि छहों द्रव्य तथा प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्याय पर के द्वारा किये हुये नहीं हैं, परंतु अकृत्रिम हैं। है, उसे कौन बना सकता है? पर्याय तो नयी-नयी होती है, उस कार्य का नियामक कोई जड़ कर्म या भगवान कर्त्ता है? नहीं, क्योंकि वस्तु अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध है, तथा उसकी शक्तियाँ भी अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध हैं। प्रत्येक समय में अनंत गुणों की पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप से बदलती ही रहती हैं, इसलिये कहा है कि **वस्तु की शक्ति किसी अन्य कारणों की अपेक्षा रखती ही नहीं। अन्य को कारण कहना, वह तो निमित्त बताने के लिये व्यवहारकथन है।**

वास्तव में द्रव्य-गुण-पर्याय-यह तीनों प्रत्येक द्रव्य में अपने सत्पने से ही हैं; पर से, राग से नहीं हैं। इसलिये जीव में भी चाहे उसकी पर्याय अशुद्ध हो या शुद्ध हो, उसका कर्त्ता उसके साथ तन्मय रहनेवाला द्रव्य ही है। उसका कर्ता कोई ईश्वर अथवा जड़-कर्म नहीं हैं। अनयमती ईश्वर, ब्रह्मा, विधाता को कर्ता मानते हैं, उसीप्रकार जैन नाम धारण करके अपने को पर के कार्य का निमित्तकर्ता माने, जड़ कर्म जीव को राग-द्वेष, सुख-दुःख कराता है, ऐसा माने वह भी प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता का नाश करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। अशुद्धदृष्टि से वह मात्र अपने में मिथ्या मान्यता का कर्त्ता हो सकता है, किंतु पर का कर्ता तो तीन काल और तीन लोक में भी नहीं हो सकता।

यदि निमित्त से कार्य होता हो तो साक्षात् परमात्मा तीर्थंकरदेव के पास समवसरण में (धर्मसभा में) गया, वहाँ सच्चा ज्ञान क्यों नहीं हुआ ? क्या भगवान के पास किसी का कल्याण रखा है कि वे दे दें ? सर्वज्ञदेव, आत्मा को हाथ में पकड़कर समझायें, ऐसा नहीं है। यदि सर्वज्ञ भगवान से कल्याण होता हो तो एक ज्ञानी सभी का कल्याण कर देगा, किंतु ऐसा कभी बनता ही नहीं। भगवान तो प्रत्यक्ष अपने ज्ञान द्वारा देखकर कहते हैं कि तू मेरे जैसी परिपूर्ण अमर्यादित शक्ति का स्वामी है। तुझमें अकार्यकारणत्व शक्ति विद्यमान है, वह प्रत्येक समय में तेरी स्वतंत्रता दिखलाती है। देव, शास्त्र, गुरु और शरीर सभी परद्रव्य हैं। क्षायिक सम्यक्त्व श्रद्धागुण की पर्याय तेरे कारण से उत्पन्न होती है, परद्रव्य के कारण से नहीं। रागरूपी कार्य में सम्यग्दर्शन कारण नहीं है। स्वद्रव्य के आलंबन के अनुसार जितनी वीतराग परिणति प्रगट हुई, वह भी राग की क्रिया का कारण नहीं है, अन्य तो निमित्तमात्र ही है। उपादान और निमित्त के झगड़े अज्ञानता से ही उत्पन्न होते हैं। वस्तु की कोई भी शक्ति अन्य कारणों की अपेक्षा नहीं रखती, तथा अन्य का कार्य करे, ऐसी शक्ति (योग्यता) वस्तु में नहीं है। ऐसा निर्णय करे, तभी स्वद्रव्य को पहिचान सकेगा और स्वाश्रित दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होगा। शुद्धपर्यायरूपी कार्य स्वद्रव्य से ही होता है; शरीर से, मन, विकल्प या वाणी से नहीं होता—ऐसी स्वतंत्र वस्तुस्थिति लक्ष्य में न आये तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा।

स्वतंत्रता से सुशोभित अनंतशक्तियों का धारक मैं आत्मा हूँ, उसमें स्व-संवेदनज्ञान प्रगट न करे तो शुभराग तथा निमित्त का पक्ष नहीं छूटेगा। धर्म की प्राप्ति के लिये अपने माने हुये विधि-विधान अनंत बार किये, तथापि आत्महितरूप कार्य कभी नहीं हुआ। सत्य बात श्रवण करने को मिले तो उससे क्या हुआ ? मजदूरों के यहाँ भी भाट-बारोट आकर उनकी सैंकड़ों हजारों वर्ष पुरानी वंशावली को पढ़कर सुनाते हैं किंतु दिन भर के श्रम से थके हुए ये मजदूर लोग हुक्का-बीड़ी तथा बातों में तल्लीन रहते हैं, तब बारोट उनको कहता है कि तुम्हारे पूर्वज महान प्रतापी हो गये, उनके गुणगान सुनाता हूँ, जरा सुनो तो सही। तब वे कहते हैं कि 'लवती गला' अर्थात् तुम अपनी सुनाते रहो, हम अपना कार्य कर रहे हैं। ठीक इसीप्रकार आचार्यदेव संसारी दु:खी प्राणी को सत्य बात श्रवण कराते हैं कि तेरे कुल में ही सर्वज्ञ पिता हो गये हैं, उनकी बात कहता हूँ। शुद्धपर्याय के पिता चैतन्य द्रव्य हैं, उनमें कितनी शक्तियाँ हैं, उनका क्या स्वरूप है, उसे आचार्यदेव तुझे समझाते हैं। अरे ! तेरी अपार शक्तियों की महिमा बतलायी जा रही है।

ज्ञानानन्दमय पूर्ण-अखण्ड द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि देने से शुद्धपर्याय उत्पन्न होती है - यह

अपूर्व बात कही जा रही है। सांसारिक रुचिवाले प्राणी कहते हैं कि—आपके पास बहुत ऊँची दशा की बात है, वह बात इस समय नहीं, अभी हममें इतनी योग्यता कहाँ है ? ऐसा माननेवाले का अमूल्य समय तत्त्व का अनादर करने में चला जाता है।

अहो ! आत्मा की पर्याय में राग कारण नहीं है तथा राग की उत्पत्ति में आत्मद्रव्य कारण नहीं है। पर की पर्याय का भी मैं कारण नहीं हूँ—ऐसा प्रथम निर्णय करे, वह जीव स्वसन्मुख हो सकता है। अतीन्द्रिय आनंद के अनुभवसहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, और उसमें विशेष आनन्दमय लीनता का होना, सो चारित्र है।

बाह्य में, शरीर की या शुभराग की क्रिया में, विकल्प में आत्मा का चारित्र नहीं है—ऐसा भगवान ने कहा है।

सैद्धांतिक चर्चा

लेख नं० ९ गतांक से चालू

प्रश्न तीसरे का समग्र उत्तर

३४७—**प्रश्न—३** (अ) चौथा, पाँचवाँ, छट्ठा, सातवाँ गुणस्थान धर्मरूप भी है या नहीं ?

उत्तर—(१) ४, ५, ६, ७ गुणस्थान अंशे धर्मरूप हैं, यह बात सच्ची है। इस भूमिका में शुभभाव होते हैं, वे धर्मरूप कभी भी नहीं हैं क्योंकि साधक को ज्ञानधारा और कर्मधारा चौथे गुणस्थान से शुरु होती है, उसमें ज्ञानधारा संवर-निर्जरा का कारण है और शुभभावरूप कर्मधारा आस्रव-बंध का कारण है।

(२) श्री समयसार, पुण्य-पाप अधिकार में कलश ११० पृष्ठ २५१ में लिखा है कि, 'अब

आशंका उत्पन्न होती है कि—तब तक अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के कर्म का उदय रहता है, तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? और कर्म तथा ज्ञान दोनों **(कर्म के निमित्त से होनेवाली शुभाशुभ परिणति तथा ज्ञान परिणति) एक ही साथ कैसे रह सकती है ?**

(३) इसके समाधानार्थ काव्य में कहते हैं कि—जब तक ज्ञान की कर्म-विरति भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती, तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है, उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है किंतु यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवश्यपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बंध का कारण है और जो एक परम ज्ञान है, वह एक ही मोक्ष का कारण है जो कि स्वतः विमुक्त है (अर्थात् तीनों काल परद्रव्यभावों से भिन्न है)।

भावार्थ—जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं होता, तब तक **सम्यग्दृष्टि के दो धाराएँ रहती हैं, शुभाशुभ कर्मधारा व ज्ञानधारा।** उन दोनों के एक ही साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान व सम्यक्ज्ञान के परस्पर विरोध है, वैसे कर्म सामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है) ऐसी स्थिति में कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है। **जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबंध होता है, और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प या व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्धस्वरूप का विचार तक भी कर्मबंध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है॥११०॥**

३४८—**प्रश्न**—३, (ब) शुभ परिणति धर्मरूप है या अधर्मरूप है ?

उत्तर—(१) श्री प्रवचनसार गाथा ७७ में शुभपरिणति को 'अनात्मधर्म' कहा है। आत्मावलोकन में पृष्ठ ३८, श्लोक ११ में धर्मी जीव की शुभपरिणति को 'अधर्म' कहा है। योगसार ७१वें श्लोक में पुण्य को पाप कहा है। श्री समयसार पुण्य-पाप अधिकार की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने व्यवहारमोक्षमार्ग को निश्चयनय से पाप कहा है। श्री समयसार मोक्ष अधिकार में शुभपरिणति को अर्थात् श्री कुन्दकुन्दाचार्य की अपनी भूमिका में होनेवाली शुभपरिणति को गाथा ३०६-३०७ में 'विषकुम्भ' कहा है।

(२) ऊपर की चर्चा में जो आधार बताये हैं, उसमें और खास करके पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय **जो चरणानुयोग का शास्त्र है, उसकी गाथा २१२-२१३-२१४ में** शुभ-अशुभभाव अर्थात् रागरूप परिणति को बंधन कहा है। जो बंधरूप हो, उससे धर्म कैसे हो सकता है ? जो भाव निश्चयधर्मरूप नहीं है, वह तो निश्चय अधर्मरूप है, यह तो अनेकांत है। सच्चे वीतरागभावरूप

धर्म से विरुद्ध शुभाशुभभाव को 'अधर्म' वीतरागी शास्त्र न कहे तो कौन कहेगा? सारा संसारी जीव तो उसको (शुभभाव को) 'धर्म' कहेंगे। वास्तव में शुभपरिणति तो आस्रवरूप है और शुभपरिणति के साथ चारित्र की पर्याय का जो अंश शुद्ध है, वह धर्मरूप है, अधर्मरूप नहीं है। ऐसा अनेकांत का स्वरूप यथार्थरूप से समझना चाहिये।

३४९—**प्रश्न**—३(क) शुभपरिणति से कर्म संवर और कर्म निर्जरा होती है या नहीं?

उत्तर—(१) शुभपरिणति से कर्म संवर और कर्म निर्जरा होती है, यह बात परमार्थतः सत्य नहीं है, किसी जगह पर व्यवहारनय से निमित्त का ज्ञान कराने के लिये धर्मी की शुभपरिणति से पाप का संवर कहने में आता है, वहाँ ऐसा अर्थ समझना कि व्यवहारनय का कथन उपचार है। वह शुद्धभाव के निमित्त कौन है, वह बताने के लिये कहा है।

(२) जहाँ व्यवहारनय की अपेक्षा कथन हो, वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि, 'ऐसा है ही नहीं किंतु निमित्तादि की अपेक्षा ज्ञान कराने के लिये कथन किया है' और उसका प्रयोजन **निमित्त का आश्रय छुड़ाने का है**। शुभपरिणति से कर्म संवर, कर्म निर्जरा होती है, यह बात तत्त्वतः सत्य नहीं है, (देखो, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा २१२-२१३-२१४)

(३) वर्णी ग्रंथमाला से प्रकाशित पंचाध्यायी पृष्ठ २७२-२७३ में कहा है कि 'व्रतादि शुभोपयोग वास्तव में बंध का कारण है' पंचाध्यायी भाग २, गाथा ७५९ से ७६२ में कहा है कि, ''यद्यपि रूढ़ि से शुभोपयोग भी 'चारित्र' इस नाम से प्रसिद्ध है **परन्तु अपनी अर्थक्रिया करने में असमर्थ है; इसलिये वह निश्चय से सार्थक नामवाला नहीं है॥७५९॥ किंतु वह अशुभोपयोग के समान बंध का कारण है; इसलिये यह श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ तो वह है जो न तो उपकार ही कर सकता है और न अपकार ही करता है॥७६०॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है, यह बात विचार करने पर असिद्ध भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि शुभोपयोग एकांत से बंध का कारण होने से वह शुद्धोपयोग के अभाव में ही पाया जाता है॥७६१॥**

(४) बुद्धि के दोष से ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एकदेश निर्जरा का कारण है क्योंकि न तो शुभोपयोग ही बंध के अभाव का कारण है और न अशुभोपयोग ही बंध के अभाव का कारण है॥७६२॥''

(४) श्री समयसार पृष्ठ २३७ कलश १०४ में लिखा है कि 'जब कि समस्त कर्मों का निषेध कर दिया, तब फिर मुनियों को किसकी शरण रही, सो अब कहते हैं।

अर्थ—शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म - ऐसे समस्त कर्मों का निषेध कर देने पर निष्कर्म (निवृत्ति) अवस्थान में प्रवर्तमान, मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है, तब **ज्ञान में आचरण करता हुआ—रमण करता हुआ—परिणमन करता हुआ ज्ञान ही उन मुनियों को शरण है;** वे उस ज्ञान में लीन होते हुये परम अमृत का स्वयं अनुभव करते हैं—स्वाद लेते हैं।

भावार्थ—किसी को यह शंका हो सकती है कि—जब **सुकृत और दुष्कृत—दोनों को निषेध कर दिया है, तब फिर मुनियों को कुछ भी करना शेष नहीं रहता, इसलिये वे किसके आश्रय से या किस** आलम्बन के द्वारा मुनित्व का पालन कर सकेंगे ?

(६) आचार्यदेव ने उसके समाधानार्थ कहा है कि समस्त कर्मों का त्याग हो जाने पर ज्ञान का महा शरण है। उस ज्ञान में लीन होने पर सर्व आकुलता से रहित परमानंद का भोग होता है—**जिसके स्वाद को ज्ञानी ही जानते हैं। अज्ञानी कषायी जीव कर्मों को ही सर्वस्व जानकर उन्हीं में लीन हो रहे हैं, वे आनन्द के स्वाद को नहीं जानते ॥१०४॥**कलश।

(७) पंडित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार के इसी कलश में कहा है कि सच्चा श्रावक व सच्चे मुनि दोनों को ये बात लागू पड़ती है तथा कहा है कि ×××**पुण्य-पाप की दो क्रिया मोक्ष पंथ की कतरणी; बंध करैया दोउ, दुहु में न भली कोउ, बाधक विचार में निषिद्ध कीनी करनी ॥१२॥**

(८) श्री समयसार, गाथा ४१४ में श्रावक व मुनि दोनों के लिये व्यवहारमोक्षमार्ग होने पर **भी वह अशुद्ध द्रव्य का अनुभव स्वरूप है, ऐसा कहा है; इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि इससे कभी भी** संवर-निर्जरा नहीं होती है। मोक्षमार्ग वास्तव में एक ही है तो भी उसका निरूपण दो प्रकार से है। श्री समयसार गाथा ४१४ में लिखा है कि—

व्यवहारनय, इन लिंग द्वय को मोक्ष के पथ में कहे;
निश्चय नहीं माने कभी को लिंग मुक्ति पंथ में ॥४१४॥

टीका—श्रमण और श्रमणोपासक के भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग हैं **—इसप्रकार का जो प्ररूपण प्रकार (अर्थात् इसप्रकार की जो प्ररूपणा) वह केवल व्यवहार ही है, परमार्थ नहीं, क्योंकि वह (प्ररूपणा) स्वयं अशुद्ध द्रव्य की अनुभवन स्वरूप है,** इसलिये उसको परमार्थता का अभाव है; श्रमण और श्रमणोपासक के भेदों से अतिक्रांत, **दर्शन-ज्ञान में**

प्रवृत्त परिणतिमात्र (-मात्र दर्शन-ज्ञान में प्रवर्तित हुई परिणतिरूप) शुद्ध ज्ञान ही एक है—ऐसा जो निस्तुष (निर्मल) अनुभवन ही परमार्थ है क्योंकि **वह (अनुभवन) स्वयं शुद्ध द्रव्य का अनुभवनरूप होने से उसी के परमार्थत्व है। इसलिये जो व्यवहार को ही परमार्थ बुद्धि से (परमार्थ मानकर) अनुभव करते हैं,** वे समयसार का ही अनुभव नहीं करते; जो **परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।**

भावार्थ—व्यवहारनय का विषय तो भेदरूप अशुद्ध द्रव्य है; इसलिये वह परमार्थ नहीं है; निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्ध द्रव्य है, इसलिये वही परमार्थ है। इसलिये जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे समयसार का अनुभव नहीं करते। जो परमार्थ को परमार्थ मानकर प्रवर्तन करते हैं, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं (इसलिये वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं)।

(९) श्री समयसार कलश टीका राजमलकृत में लिखा है कि **मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि हो, किसी को भी शुभपरिणति से संवर-निर्जरा कभी भी होती ही नहीं, ऐसा जो नहीं मानते, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं।** तथा समयसार कलश १११ पृष्ठ २५२ में भावार्थ में लिखा है कि 'मोक्षमार्गी जीव ज्ञानरूप परिणमित होते हुए **शुभाशुभ कर्मों को (अर्थात् शुभाशुभ भावों को) हेय जानते हैं और शुद्धपरिणति को ही उपादेय मानते हैं। वे मात्र अशुभ कर्मों को ही नहीं किंतु शुभ कर्मों को भी छोड़कर स्वरूप में स्थिर होने के लिये निरंतर उद्यमी रहते हैं। वे सम्पूर्ण स्वरूपस्थिरता होने तक उसका पुरुषार्थ करते ही रहते हैं।** जब तक पुरुषार्थ की अपूर्णता के कारण, शुभाशुभ परिणामों से छूटकर स्वरूप में सम्पूर्णतया स्थिर नहीं हुआ जा सकता, तब तक यद्यपि स्वरूप-स्थिरता का आंतरिक-आलंबन तो शुद्ध परिणति स्वयं ही है, तथापि आंतरिक-आलंबन लेनेवाले को जो बाह्य आलंबनरूप होते हैं, ऐसे (शुद्धस्वरूप के विचार आदि) शुभपरिणामों में वे जीव हेयबुद्धि से प्रवर्तते हैं किंतु शुभकर्मों को निरर्थक मानकर उन्हें छोड़कर स्वच्छंदतया अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होने की बुद्धि कभी भी नहीं होती। ऐसे एकांत अभिप्राय रहित जीव कर्मों का नाश करके, संसार से निवृत्त होते हैं।'

(१०) देखिये यहाँ धर्मी को शुभकर्मों को छोड़कर स्वच्छंदतया होने की बुद्धि कभी नहीं होती इससे शुभ से कर्म संवर और कर्म निर्जरा होती है, ऐसा नहीं है, किंतु शुभकर्म (शुभभाव) अल्प दोष है और अशुभभाव विशेष दोष है, ऐसा भेद का ज्ञान कराने के लिये धर्मी जीव उसको निरर्थक नहीं मानते किंतु उसके प्रति हेयबुद्धि नियम से होती ही है। समयसार कलशा

(राजमलजी कृत) हिन्दी पृष्ठ १०८ में कहा है कि **सम्यग्दृष्टि का शुभभाव व्यवहारमोक्षमार्ग कहने में आता है, यह कथनमात्र है। बंध का कारण है।**

जैसे कंबल का नाहर (कपड़े पर चित्रित शिकारी पशु) कहने का नाहर है वैसे शुभ क्रियारूप आचरणरूप चारित्र कथनमात्र चारित्र है परंतु चारित्र नहीं है-निःसंदेहपने ऐसा जानो।'

(११) **प्रश्न**—श्री समयसार गाथा १९३ में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियों के द्वारा अचेतन तथा चेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सर्व निर्जरा का निमित्त है, इस गाथा के आधार से सम्यग्दृष्टि जीव को अशुभभाव निर्जरा का निमित्त हुआ तो, शुभभाव निर्जरा का हेतु क्यों नहीं होता ?

उत्तर—गाथा का अर्थ किसप्रकार करना चाहिये, इसका स्पष्टीकरण मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ८, पृष्ठ ४१९ में निम्नप्रकार कहा है कि, 'उन्हीं शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के भोगादिक को बंध का कारण नहीं कहा है, निर्जरा का कारण कहा है। **इससे भोगों का यहाँ उपदेश न समझ लेना चाहिये,** किंतु सम्यग्दृष्टि की महिमा दिखाने के लिये **जो तीव्र बंध के कारण भोगादिक प्रसिद्ध थे, उन भोगादिकों के होते हुए भी श्रद्धानशक्ति के बल से मंद होने लगा उसको तो गिना नहीं और उस ही के बल से निर्जरा विशेष होने लगी।** अतः उपचार से भोगों को भी बंध का कारण नहीं बतलाया, निर्जरा का कारण कहा है; विचार करने पर यदि भोग निर्जरा के कारण हों तो सम्यग्दृष्टि उनको छोड़कर मुनिपद ग्रहण क्यों करे ? यहाँ इस कथन का **इतना ही प्रयोजन है कि सम्यक्त्व की महिमा देखो!** जिसके बल से भोग भी अपने गुणों को नहीं कर सकते।' इसलिये अशुभ या शुभ भावों से निर्जरा होती है, ऐसा मानना यथार्थ नहीं है, उसमें जो निर्जरा का उपचार आता है, वह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य बताते हैं, ऐसा जानना।

३५०—**प्रश्न—३,** (उ) पुण्य किस अवस्था में किस व्यक्ति को त्याज्य है ?

उत्तर—पुण्य सब अवस्थाओं में सब जीवों को श्रद्धा और चारित्र में त्याज्य है किंतु ४-५-६ गुणस्थानों में अपनी कमजोरी के कारण आये बिना नहीं रहता; इसलिये इसको व्यवहार धर्म कहते हैं। यह अपनी कमजोरी से आता है, इसलिये इसको त्याज्य न समझे अर्थात् इसमें हेय बुद्धिरूप प्रवर्तन न करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। देखिये—पूर्व में कहे हुए विवेचन में और ऊपर के उत्तर में सब समाधान आ गया।

३५१—**प्रश्न—३**(ई) असंयत सम्यग्दृष्टि को पुण्य हेय है या उपादेय ?

उत्तर—(१) इसका उत्तर [अ] से [ड] तक के उत्तर में तथा पूर्व विवेचन में आ गया है, और यह बात श्री समयसार कलश ११०, पृष्ठ २५१ में ज्ञानधारा, कर्मधारा में विशेषरूप से आ गई है। इस पर से स्पष्ट हो जाता है कि पुण्य असंयत सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में हेय ही है। चारित्र में कमजोरी के कारण आये बिना नहीं रहता किंतु उसमें वह हेयबुद्धि से प्रवर्तन करता है। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि को शुभ कषाय करने का तथा श्रद्धा में भला जानने का अभिप्राय पाया जाता है और देशसंयत, असंयत सम्यग्दृष्टि के कषाय की प्रवृत्ति तो है, परंतु श्रद्धान में किसी भी कषाय (शुभाशुभभाव) करने का अभिप्राय नहीं है। जिसको राग का राग है, अर्थात् राग को भला मानता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है।

(२) श्री समयसार निर्जरा अधिकार कलश १३७ के भावार्थ में पृष्ठ ३०७ में लिखा है कि "फिर कोई पूछता है कि, 'परद्रव्य में जब तक राग रहे, तब तक जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझ में नहीं आई। **अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि के चारित्रमोह के उदय से रागादि भाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे है ?**" इसका समाधान यह है कि—**यहाँ मिथ्यात्व सहित अनंतानुबंधी राग प्रधानता से कहा है।** जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् **जिसे परद्रव्य में तथा परद्रव्य से होनेवाले भावों में आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-पर का ज्ञान-श्रद्धान नहीं है—भेदज्ञान नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।** जो जीव मुनिपद लेकर व्रत-समिति का पालन करे, तथापि जब तक पर जीवों की रक्षा तथा शरीर संबंधी यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करना इत्यादि **परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने शुभभावों से अपनी मुक्ति मानता है** और पर जीवों का घात होना तथा अयत्नाचाररूप से प्रवृत्ति करना इत्यादि **परद्रव्य की क्रिया से और परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने अशुभभावों से ही अपना बंध होना मानता है, तब तक जानना चाहिये कि उसे स्व-पर का ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि बंध-मोक्ष अपने अशुद्ध तथा शुद्ध भावों से ही होता था, शुभाशुभभाव तो बंध के ही कारण थे और परद्रव्य तो निमित्त मात्र ही था, उसमें अपने विपर्ययरूप मान लिया।** इसप्रकार जब तक जीव परद्रव्य से भला-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के शुभ-अशुभभाव बंध के ही कारण हैं।

सम्यग्दृष्टि राग को रोग मानता है और उसका मिटना ज्ञान-परिणामरूप परिणमन करने से मानता है।

(३) जब तक अपने में चारित्रमोह संबंधी रागादिक रहते हैं, तब तक सम्यग्दृष्टि जीव

रागादिक में तथा रागादि की प्रेरणा से जो परद्रव्य संबंधी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्ति करता है, उन प्रवृत्तियों के संबंध में वह यह मानता है कि यह कर्म का जोर है, उससे निवृत्त होने में ही मेरा भला है, वह उन्हें रोगवत् जानता है, पीड़ा सहन नहीं होती; इसलिये रोग का इलाज करने में प्रवृत्त होता है, तथापि उसके प्रति उसका राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिसे वह रोग मानता है, उसके प्रति राग कैसा ? वह उसे मिटाने का ही उपाय करता है **और उसका मिटना भी अपने ही ज्ञान परिणामरूप परिणमन से मानता है।** अतः सम्यग्दृष्टि के राग नहीं है। इसप्रकार यहाँ परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से व्याख्यान जानना चाहिये। यहाँ मिथ्यात्वसहित राग को ही राग कहा है। मिथ्यात्व -रहित चारित्रमोह संबंधी परिणाम को राग नहीं कहा। इसलिये सम्यग्दृष्टि के ज्ञान-वैराग्यशक्ति अवश्य ही होती है। सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्वसहित राग नहीं होता और जिसके मिथ्यात्वसहित राग हो, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। ऐसे (मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के भावों के) अंतर को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। पहिले तो मिथ्यादृष्टि का अध्यात्म शास्त्र में प्रवेश ही नहीं है और यदि वह प्रवेश करता है तो विपरीत समझता है—शुभभाव को सर्वथा छोड़कर भ्रष्ट होता है अर्थात् अशुभभावों में प्रवर्तता है अथवा निश्चय को भलीभाँति जाने बिना व्यवहार से ही (शुभभाव से ही) मोक्ष मानता है, परमार्थ तत्त्व में मूढ़ रहता है। यदि कोई विरला जीव यथार्थ स्याद्वाद न्याय से सत्यार्थ को समझ ले तो उसे अवश्य ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। वह अवश्य सम्यग्दृष्टि हो जाता है ॥१३७॥ ज्ञानी को भूमिकानुसार व्यवहाररत्नत्रय के शुभराग आते हैं, किंतु जो जीव रागादि भावों को भला मानते हैं, कर्तव्य मानते हैं, वे आस्रव (-रागादि) और आत्मा को एक मानते ही हैं। इसलिये उन्हें जीव-अजीवतत्त्व की सत्य श्रद्धा नहीं है।

(४) इस विषय में समयसार गाथा २०१-२०२ बहुत उपयोगी है।

'अणुमात्र भी रागादिका, सद्भाव है जिस जीव को।
वो सर्व आगमधर भले हो जानता नहिं आत्मको॥२०१॥
नहिं जानता जहँ आत्मा को, अनआत्म भी नहिं जानता।
वो क्यों हि होय सुदृष्टि जो, जीव अजीव को नहिं जानता॥२०२॥'

टीका—जिसके रागादि अज्ञानमय भावों का लेशमात्र भी सद्भाव है, वह भले ही श्रुतकेवली जैसा हो, तथापि वह ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता; और जो आत्मा को नहीं जानता, वह अनात्मा को भी नहीं जानता क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पर सत्ता से

असत्ता—इन दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है (जिसे अनात्मा का-राग का निश्चय हुआ हो, उसे अनात्मा और आत्मा—दोनों का निश्चय होना चाहिये।) इसप्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता, वह जीव और अजीव को नहीं जानता तथा जो जीव और अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। इसलिये रागी (जीव) ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।

भावार्थः—यहाँ 'राग' शब्द से अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह कहे गये हैं। और अज्ञानमय कहने से मिथ्यात्व-अनंतानुबंधी से हुए रागादिक समझना चाहिये; मिथ्यात्व के बिना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना चाहिये; **क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादि को** चारित्रमोह के उदय संबंधी जो राग है, सो ज्ञानसहित है। सम्यग्दृष्टि उस राग को कर्मोदय से उत्पन्न हुआ **रोग जानता है, और उसे मिटाना ही चाहता है।** उसे उस राग के प्रति राग नहीं है, और सम्यग्दृष्टि के राग का लेशमात्र सद्भाव नहीं है, ऐसा कहा है, सो इसका कारण इसप्रकार है।—सम्यग्दृष्टि के अशुभराग तो अत्यंत गौण है और जो **शुभराग है, सो वह उसे किंचितमात्र भी भला (अच्छा) नहीं समझता।** उसके प्रति लेशमात्र राग नहीं करता, और निश्चय से तो उसके राग का स्वामित्व ही नहीं है, इसलिए उसके लेशमात्र राग नहीं है। (सम्यग्दृष्टि को राग का राग नहीं होता अर्थात् **शुभराग को किंचित्मात्र भी भला नहीं समझता।**)

बहुत शास्त्रों का अभ्यासी हो, या मुनि हो किंतु जो राग को किंचित्मात्र भी भला जानता है, वह आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जानता, जीव-अजीव को भी नहीं जानता।

(५) यदि कोई जीव राग को भला मानकर उसके प्रति लेशमात्र राग करे तो—वह भले ही सर्व शास्त्रों को पढ़ चुका हो, मुनि हो, व्यवहारचारित्र का पालन करता हो, तथापि यह समझना चाहिये कि उसने अपने आत्मा के परमार्थस्वरूप को नहीं जाना, कर्मोदयजनित राग को ही अच्छा मान रखा है, तथा उसी से अपना मोक्ष माना है। इसप्रकार अपने तथा पर के परमार्थस्वरूप को न जानने से जीव-अजीव के परमार्थस्वरूप को नहीं जानता। और जहाँ जीव तथा अजीव इन दो पदार्थों को ही नहीं जानता, वहाँ सम्यग्दृष्टि कैसा? तात्पर्य यह है कि रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

(६) इस पर से यह सिद्ध होता है कि असंयत सम्यग्दृष्टि को पुण्य हेय ही है, उपादेय है ही नहीं, **ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये। जिसकी श्रद्धा में पुण्य उपादेय है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।**

(७) **प्रश्नः**—रयणसार ग्रन्थ की ११वीं गाथा में कहा है कि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ के श्रावक

धर्म में पूजा करना तथा दान देना मुख्य है, दान और पूजा के बिना वह गृहस्थ श्रावक नहीं हो सकता ? इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर:—(१) इस गाथा में श्रावक के पूजा और दान के भाव से **संवर-निर्जरा होती है, ऐसा नहीं कहा है।**

(२) श्रावक को पंचम गुणस्थान दो चौकड़ी कषाय के अभावपूर्वक और दो चौकड़ी कषाय के सद्भावपूर्वक होता है, इसलिये श्रावक को अपनी निर्बलता के कारण से पूजा और दान का भाव आता ही है, न आवे ऐसा बनता ही नहीं है और न आवे तो वह श्रावक ही नहीं है। पूजा-दानादि के शुभभाव को श्रावक धर्म कहने का अर्थ व्यवहार धर्म है, निश्चय धर्म नहीं है।

(३) श्री समयसार निर्जरा अधिकार में गाथा २१० पृष्ठ ३२२ पर निम्नानुसार लिखा है।

ज्ञानी व्यवहारधर्म (पुण्य) को नहीं चाहता, उसको आये बिना नहीं रहता, पुण्य को भला जाने तो उसे पुण्य का परिग्रह हो गया, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि ही है।

पहिले कहते हैं कि **ज्ञानी के धर्म का (पुण्य) का परिग्रह नहीं है।**

अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहिं पुण्य इच्छा ज्ञानी के।
इससे न परिग्रही पुण्य का, वो पुण्य का ज्ञायक रहे॥२१०॥

टीका:—इच्छा परिग्रह है, उसको परिग्रह नहीं है, जिसको इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता; ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है। इसलिये अज्ञानमय भाव-इच्छा का अभाव होने से **ज्ञानी धर्म को नहीं चाहता,** इसलिये ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) धर्म का केवल ज्ञायक ही है।

देखिये, यहाँ पर भी मूल गाथा में पुण्य को धर्म कहा है, इसलिये रयणसार में भी जो धर्म कहा है, वह निश्चयधर्म नहीं है; उपचार अर्थात् व्यवहारधर्म है, ऐसा समझना चाहिये।

व्यवहार धर्म रागरूप है, ४-५-६ गुणस्थानों में आता है तो भी सम्यग्दृष्टि उसको आस्रव ही मानते हैं। भला नहीं मानते।

४-५-६ गुणस्थानों में अपनी भूमिकानुसार व्यवहारधर्मरूप राग आता है किंतु उसको आस्रव और श्रद्धा में हेय ही जानते हैं। जिस जीव की श्रद्धा में, 'राग' आस्रव हेय नहीं है, उसे आस्रव व आत्मा का भेदज्ञान नहीं है; उसने भेदज्ञान को पहिचाना ही नहीं है। उसे विशेष तौर से श्री

समयसार की ६९-७०-७२-७४-२०१-२०२ की गाथाओं में मिथ्यादृष्टि कहा है। ऐसा तात्पर्य निकलता है कि [४] श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में चारित्रमोह के स्पर्धकों के उदय में जुड़ाने से सम्यग्दृष्टि तथा श्रावकों को जो प्रशस्त राग होता है, वह तो चारित्र का मल है, उसको छूटता हुआ न जानकर इसका तो त्याग नहीं करता, केवल अपनी भूमिकानुसार सावद्ययोग का ही त्याग करता है। परंतु जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि बहुत दोषवाले हरितकाय का त्याग करता है और कोई हरितकाय को खाते हैं परंतु उसको धर्म नहीं मानते। वैसे श्रावक हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं, और कोई मंदकषायरूप अणुव्रतादि का पालन करते हैं परन्तु उसको मोक्षमार्ग नहीं मानते।

सम्यग्दृष्टि का पुण्यभाव हेय होने के कारण से सातिशय होता है। मिथ्यादृष्टि शुभभाव को अच्छा मानता है, इसलिये उसे तुच्छ पुण्य बँधता है।

जिस जीव ने शुभभाव को उपादेय माना है, उससे विलक्षण-जाति का शुभभाव सम्यग्दृष्टि को (श्रद्धा में आस्रव हेय होने के कारण) होता है, अत: उसके पुण्य को सातिशय पुण्य कहने में आता है और जो जीव शुभभाव को अच्छा मानते हैं, उनको जो शुभभाव होते हैं, उसको असत्य पुण्य, हलका पुण्य, तुच्छ पुण्य कहा जाता है। इस विषय में पंचास्तिकाय में भगवान श्री अमृतचंद्राचार्य १३६ गाथा की टीका पृष्ठ २०१ में कहते हैं कि 'यह (प्रशस्त राग) वास्तव में, जो स्थूल लक्ष्यवाला होने से मात्र भक्ति प्रधान है, ऐसे अज्ञानी को होता है; उच्च भूमिका में (ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो तब अस्थान का राग रोकने के हेतु अथवा तीव्र रागज्वर मिटाने के हेतु, कदाचित् ज्ञानी को भी होता है।

(८) **५. प्रश्न**—सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञानी को कैसी श्रद्धा होती है ?

उत्तर:—मैं आत्मा हूँ, मुझे रागादिक नहीं करना चाहिये। (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४६०)

(९) **प्रश्न**—तो फिर सम्यग्दृष्टि जीव विषयादिक में क्यों प्रवर्तमान होता है ?

उत्तर:—(१) सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी चारित्रगुण की पर्याय निर्बल होने से जितने अंश में चारित्रमोह के उदय में युक्त होता है, उतने अंश में उसे रागादि होते हैं किंतु वह पर वस्तुओं से रागादि का होना नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि जीव को देहादि पर पदार्थ, द्रव्यकर्म तथा शुभाशुभ-भावों में एकत्वबुद्धि नहीं होती।

(२) श्री प्रवचनसार जयसेनाचार्यकृत ज्ञेय अधिकार गाथा ३३, (तथा श्री अमृतचंद्राचार्य की गाथा १२४) की टीका ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी कृत पृष्ठ १४२ में लिखा है कि "[१]

विषयानुरागरूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है, उसका फल अति आकुलता को पैदा करनेवाला नारक आदि का दु:ख है। [२] धर्मानुरागरूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है, उसका फल चक्रवर्ती आदि के पंचेन्द्रियों के भोगों का भोक्ता है। यद्यपि इस सुख को अशुद्ध निश्चयनय से सुख कहते हैं **तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करनेवाला होने से शुद्ध निश्चयनय से दु:ख ही है। [३] और रागादि सहित शुद्धोपयोग में परिणमनरूप कर्म है, उसका फल अनाकुलता को पैदा करनेवाला परमानंदमयी एकरूप सुखामृत का स्वाद है,** इसप्रकार कर्मफलचेतना का स्वरूप जानना चाहिये।''

(१०) शुभभाव का कथन शास्त्रों में तीन प्रकार का आता है, यदि अपेक्षा का ज्ञान न हो तो जीव भूल में पड़ जाता है। श्री मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ४३५ में लिखा है कि 'तथा एक ही भाव में कहीं तो उससे उत्कृष्ट भाव की अपेक्षा से निन्दा की हुई होती है और कहीं उससे हीन भाव की अपेक्षा से प्रशंसा की हुई होती है। इसमें विरोध नहीं है। जैसे किसी शुभक्रिया की निन्दा की हो तो वह उससे ऊँची शुभक्रिया या शुद्धभावों की अपेक्षा समझना चाहिये, और जहाँ प्रशंसा की हो वहाँ उससे नीची क्रिया या अशुभक्रिया की अपेक्षा समझना चाहिये।'

देखिये—शुभभाव के संबंध में बड़ी स्पष्टता करने में आयी है। वहाँ शुभ क्रिया की प्रशंसा की हो, उससे संवर-निर्जरा होती है, ऐसा बताने के लिये प्रशंसा नहीं की है परंतु अशुभभाव की अपेक्षा कम दोष वाली होने के कारण उसकी प्रशंसा की है; इसलिये शास्त्रों के कथनों की अपेक्षा बराबर समझना चाहिये।

(११) किसी भी जगह आगम में ज्ञानी या अज्ञानी के शुभभाव से संवर-निर्जरा होती है, ऐसा नहीं कहा है, परंतु शुभभाव को हेय ही कहा है, इसीप्रकार प्रत्येक स्थान पर समझना चाहिये।

उपसंहार

३५२—**प्रश्न**—(१) शरीर की क्रिया से जीव को बंध और मोक्ष होता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशांग के साररूप श्री समयसार गाथा २४० में कहते हैं कि—

यों जानना निश्चयपनें-चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबंध कारण वो हि है, नहि काय चेष्टा शेष हैं॥२४०॥

टीका में इस विषय के वर्णन में स्पष्ट कहा है कि काय-वचन-मन का कर्म (क्रिया) बन्ध का कारण नहीं है।

जीव कभी भी शरीर-मन-वाणी की क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर उसकी क्रिया से जीव को बंध अथवा मोक्ष का होना मानना अन्याय है।

गाथा २४५ में भी शब्दशः ऐसा ही कहा है। दोनों गाथा में एक ही प्रकार के शब्द हैं।

प्रश्न—(१) जीव के बंध-मोक्ष कैसे होता है?

उत्तर—(१) श्री योगसार गाथा १४ में कहा है कि—''परिणाम से ही जीव के बंध कहा है और परिणाम से ही मोक्ष कहा है—यह समझकर हे जीव, तू निश्चय से उन भावों को जान'

(२) श्री प्रवचनसार गाथा १७५ से १८८ तक इस प्रश्न संबंध में अच्छी चर्चा की है। उसमें कहा है कि जीव को अपने परिणाम से ही बंध-मोक्ष होता है, शरीर-मन-वाणी परद्रव्य होने से उसकी क्रिया से बंध नहीं है। सिद्धांत तो यह है कि—जो करे सो भोगे, अतः शरीर की क्रिया जीव के भावों की कर्ता हो तो शरीरादि परद्रव्य भी सिद्ध भगवान हो जावे। देखो समयसार कलश २०३ 'कार्यत्वादकृतं.....'

(३) श्री प्रवचनसार गाथा १८६ में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं कि—''अशुद्ध परिणामेन बध्यते, शुद्ध परिणामेन मुच्यते इति'' इससे दो सिद्धांत सिद्ध होते हैं—(१) शरीर जड़ कर्म आदि परद्रव्य की क्रिया से जीव को बंध-मोक्ष नहीं होता, किंतु अपने परिणामों से होता है। (२) धर्मी हो या अधर्मी दोनों के शुभभाव अशुद्ध परिणाम हैं, उनसे बंध होता है, अतः शुभभाव से किंचित् संवर-निर्जरा और किंचित् बंध होता है—ऐसी मान्यता झूठ है।

(४) इस विषय में पंडित श्री टोडरमलजी श्वेताम्बर मत निराकरण अध्याय ५, मोक्षमार्गप्रकाशक २३२ में कहते हैं कि ''पुनः (वह) व्रतादि शुभोपयोग से ही देवगति का बंध मानता है तथा उसी को मोक्षमार्ग मानता है, उसने तो बंधमार्ग और मोक्षमार्ग को एक किया।

पुनः मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३४ में कहा है कि—

उत्तरः—''वह भाव मिश्ररूप है। किछू वीतराग भया है, किछू सराग रह्या है। जे अंश वीतराग भये तिनकरि संवर ही है अर जे अंश सराग रहे तिनकरि बंध है। सो एक भावतैं तो दोय कार्य बनैं परंतु एक प्रशस्तरागहीतैं पुण्यास्रव भी मानना, अर संवर निर्जरा भी मानना, सो भ्रम है। मिश्रभावविषैं भी यहु सरागता है, यहु विरागता है; ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिहीके होय। तातैं अवशेष सरागताकौं हेय श्रद्धे हैं। मिथ्यादृष्टि के ऐसी पहिचान नाहीं, तातैं सरागभावविषैं संवर का भ्रमकरि प्रशस्त रागरूप कार्यनिकौ उपादेय श्रद्धे हैं।''

[प्रशस्तराग वह शुभोपयोग है, देखो श्री प्रवचनसार गाथा १५६-१५७ वह परद्रव्य के संयोग का कारण है तथा श्री पंचास्तिकाय गाथा १३६ में व्यवहारचारित्र को प्रशस्तराग कहा है।]

देखो—(१) यहाँ भी धर्मी के शुभोपयोग से संवर-निर्जरा मानना भ्रम कहा है।

(२) सम्यग्दृष्टि अपने भाव को यथार्थतया जानते हैं, किंतु आज समाज का बहुभाग ऐसा मानता है कि अपने को निश्चयसम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं, वह सम्यग्ज्ञानी जीव नहीं जान सकता किंतु यह मान्यता मिथ्या ही है। सम्यग्दृष्टि अपने सम्यग्ज्ञान के बल से अपने भाव को तो यथार्थ ही जान सकते हैं, यदि न जानें तो उनके अनध्यवसाय हुआ; अतः उनका ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है।

प्रश्न३—देहाश्रित व्रत-संयम को अपना माने वह मिथ्यादृष्टि है कि सम्यग्दृष्टि ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि है। देखो, पंडित टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी—

प्रश्न—शरीराश्रित उपदेश-उपवासादि क्रियाओं में अपनापना माने, उसको जीव-अजीव की सच्ची श्रद्धा है या नहीं ?

उत्तर—नहीं, देखो—जीव-अजीव तत्त्व के श्रद्धान की अयथार्थता मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३३०।

प्रश्न ४—मुनि का शुभोपयोग हेय है या नहीं ?

उत्तर—मुनि रागभाव को हेय जानते हैं और उसे दूर करना चाहते हैं। [मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४]

प्रश्न ५—सम्यग्दृष्टि के व्यवहारचारित्र का क्या फल है ?

उत्तर—उससे बंध है—निर्जरा आंशिक भी नहीं है [श्री पंचाध्यायी, भाग २, गाथा ९५९ से ९६२]

प्रश्न ६—गुणस्थान किसप्रकार से उत्पन्न होता है ?

उत्तर—(१) श्री समयसार गाथा ६८ में मोहकर्म के उदयपूर्वक उत्पन्न होता है, ऐसा कहा है। श्री गोम्मटसार में मोह योग से उत्पन्न होता है, ऐसा कहा है।

(२) श्री समयसार गाथा १०९ से ११३ तक कहा है कि—

"××जिसे 'गुण' शब्द कहने में आता है (अर्थात्) जिसका नाम गुणस्थान है, वही केवल कर्मों को करता है××"

(३) द्रव्यसंग्रह गाथा १३ में जीव की गुणस्थान पर्याय अशुद्धनय से कही है।

प्रश्न ७—सम्यक्त्वप्रकृति तो पुद्गल है, उसको सम्यक्त्व कहने का क्या कारण ?

उत्तर—श्री समयसार जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका गाथा ३५४ कहते हैं कि ''××औपशमिक सम्यक्त्व के पीछे होनेवाले वेदक सम्यक्त्व के स्वभावरूप तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप जीव के परिणाम को वह नहीं मार सकता, इसकारण से उपचारनय के द्वारा सम्यक्त्व का कारण है इसी हेतु से उसे कर्म विशेष को भी 'सम्यक्त्व' कहते हैं। जैसे तीर्थंकर नामकर्म परम्परा से मुक्ति का कारण है, तैसे यह प्रकृति भी परम्परा से मुक्ति का कारण है। इसमें कोई दोष नहीं है।''

प्रश्न—उपचारनय का यह कथन उपादेय है कि हेय है अर्थात् वे कर्म प्रकृतियाँ क्या उपादेय और हेय हैं ?

उत्तर—उपचारनय का सब कथन जानने योग्य है किंतु उपादेय नहीं है, हेय है। श्री परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा ५४ संस्कृत टीका में कहा है कि ''परम्परया मुक्ति कारणं तीर्थंकर नामकर्म प्रकृत्यादिक मनीहितवृत्या विशिष्ट पुण्यमास्रवतितथाप्यसौ तदुपादेयं न करोतीति भावार्थ'' देखिये—[१] यहाँ तीर्थंकर नामकर्म को हेय कहा है, इससे फलित होता है कि उसके कारणरूप राग को भी सम्यग्दृष्टि हेय मानता है।

(२) सब प्रकार का परम्परा कारण हेय है। व्यवहारमोक्षमार्ग व्यवहारनय से परम्परा कारण है, उसे सम्यग्दृष्टि श्रद्धा में हेय मानता है।

प्रश्न ८—(अ) भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने श्री समयसार गाथा १०५ से १०८ में जीव को पुद्गल कर्म का कर्ता कहा अर्थात् निमित्तकर्ता **उपचार मात्र कर्ता कहा है,** और उससे (निमित्त-कर्ता से) जीव को लाभ-नुकसान (गुण-दोष) होता है, यह कथन भी उपचारमात्र होने से असत्यार्थ कहा है।

(ब) भगवान श्री वीरसेनाचार्य ने धवल पुस्तक १४, पृष्ठ १३ में कहा है कि—सिद्ध भगवंतों के पुद्गल प्राणमय जीवत्व वास्तव में (वस्तुतः) नहीं है परन्तु **उपचार से है—और उपचार को सत्य मानना ठीक नहीं है।'**

(स) श्री प्रवचनसार गाथा १२१ में आत्मा उपचार से द्रव्यकर्म कर्ता है—ऐसा कहा और गाथा १२२ में कहा कि वह कथन सत्य नहीं है—सत्य तो यह है कि जीव स्वतंत्ररूप से अपनी विभावमयी, जीवमयी क्रिया का कर्ता है—और द्रव्यकर्म का कर्ता पुद्गल द्रव्य है, ऐसा कहा है।

तब प्रश्न यह है कि—**उपचार को सत्य मानने में क्या विरोध आता है ?**

उत्तर—(१) अज्ञानी जीव निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, वह भी भ्रम है कारण कि व्यवहार (-उपचार), सत्य स्वरूप का निरूपक नहीं है। किंतु **किसी अपेक्षा से उपचार,** अन्यथा निरूपण करता है, तथा निश्चयनय जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है। अन्यथा का अर्थ वस्तु का स्वरूप जैसा है, उससे विपरीत कथन करना। इस विपरीत कथन को किसी अपेक्षा से सीधा कथन न करके प्रतिपक्ष के आरोप द्वारा कहना—किंतु उसका अर्थ यह है कि ऐसा कभी भी नहीं होता किंतु निमित्त, संयोग संबंध, भेद-प्रभेद आदि का ज्ञान कराने के लिये वह उपचार करने में आता है। अत: उसको सत्यार्थ-परमार्थ कथन मानना एक बड़ा भ्रम है।

(२) उपचार (व्यवहार) को उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु के सत्यस्वरूप का निर्णय करे तो उपचार कथन का जानना सम्यग्ज्ञान है, किंतु निश्चय की तरह उपचार को भी सद्भूत मानकर, निश्चय का समकक्ष मानकर उपचार (-व्यवहार) कथित धर्म को सत्यभूत माने तो उस जीव को विपरीत श्रद्धान होता है।

(३) तातैं व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़ना योग्य है। कारण कि उपचार कथन तो (-व्यवहारनय तो) स्वद्रव्य-परद्रव्य को वा उसके भावों को वा कारण कार्यादिक को किसी का किसी में मिलाकर निरूपण करता है। अत: उपचार कथन को सत्यभूत मानना मिथ्या श्रद्धा है। निश्चयनय किसी को किसी में मिलाता नहीं है। इसलिये निश्चय के निरूपण को सत्यभूत मानने से सम्यक् श्रद्धा होती है। कहा है कि 'सम्यग्दृष्टित्व भूतार्थ के आश्रित हैं।'

(४) सत्यार्थ का नाम निश्चय है—असत्यार्थ का नाम ही उपचार है।

(५) **कहाँ उपचार हो सकता है और कहाँ नहीं हो सकता।** उसका स्पष्टीकरण श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका में बड़ी सुन्दर रीति से किया है। कहते हैं कि—**''स्कंदानां कारणभूताया: पुनर्बन्ध कारणभूताया: स्निग्धरूक्षत्व सद्भावादुपचारेण कायत्वं भवति। कालाणूनां पुनर्बन्ध कारणभूताया: स्निग्धरूक्षत्व शक्तेरभावादुपचारेणापि कायत्वं नास्ति।''**

देखिये स्कंध को निश्चय अस्तिकायत्व कहेंगे तो सब परमाणुओं का भिन्न-भिन्न अस्तित्व न रहकर एक स्वतंत्र द्रव्य हो जायेगा। पंचास्तिकाय, गाथा ८१ में कहा है कि स्कंध में भी प्रत्येक द्रव्य परिपूर्ण स्वतंत्र है, यदि ऐसा न माना जाये तो उन सब द्रव्यों का नाश हो जाये, अर्थात् संकर-व्यतिकर-सर्व शून्यादि बड़े दोष आते हैं।

(६) पंचास्तिकाय गाथा ८ तथा धवला पुस्तक १४, पृष्ठ २३३ में कहा है कि—प्रत्येक भाव को सप्रतिपक्षभाव होता ही है।

संसारी जीवों का अभाव होने पर असंसारी जीवों के भी अभाव का प्रसंग आता है—××सब सप्रतिपक्ष पदार्थों की उपलब्धि अन्यथा नहीं बन सकती, यह एक महान सिद्धांत है कि जगत में यदि असत्यवादी न हो तो सत्यवादी किसको कहेंगे? जिसको सत्यवादी कहा जाता है, उसको असत्यवादी से भिन्न (विरुद्ध) बताने के लिये कहने में आता है।

(७) इस प्रकार **सत्यार्थ कारण** जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ (अर्थात् प्रत्येक कार्य में प्रत्येक समय दोनों कारण होते ही हैं) **उस समय उसका प्रतिपक्षी असत्यार्थ कारण होता ही है**—इस कारण से उसको व्यवहारकारण कहो, उपचारकारण कहो। निश्चयकारण और व्यवहारकारण प्रतिसमय सप्रतिपक्षीरूप से होते ही हैं। किंतु इसकारण से उपचारकारण सत्यार्थकारण हो जाता है, ऐसा मानना अपसिद्धांत है (पंचाध्यायी भा० २, गाथा ३५१ में निमित्त कारण को अहेतुवत् [अकारणवत्] कहा है)।

इसप्रकार प्रश्नोत्तर नं० २ का यह विवेचन पूर्ण होता है। कुछ विवेचन आगामी प्रश्नों में आयेगा। इस विषय को पूर्ण करने के पहिले जिज्ञासुओं का लक्ष पूर्वकालीन कविवर सूरचंदजी अपने 'समाधिमरण' भावना के कवित्त में क्या कहते हैं, उस ओर केन्द्रित करने में आता है।

❀❀❀

भव भव में साधर्मी जन को संग मिल्यो हितकारी॥३॥
भवभव में जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहि दीनो,
भव भव में मैं समवसरन में देख्यो जिन गुन भीनो;
एती वस्तु मिली भव भव में, 'सम्यक्' गुन नहिं पायो,
ना समाधियुत मरन कियो मैं तातैं जग भरमायो॥४॥

[देखो—अनंतबार शुभभाव से धर्म माना, किंतु सम्यक्त्व नहीं पाया। अब कहते हैं कि सम्यग्दर्शन किसप्रकार होता है और अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है, ऐसा यथार्थ ज्ञान-सम्यग्ज्ञान इस काल में भी ज्ञात हो सकता है। यह बात काव्य नंबर २ में है।]

अब निज भेदयथारथ समझो, मैं हूँ जोति-सरूपी,
उपजे विनसे सो यह पुद्गल, जानो याको रूपी;

इष्ट अनिष्ट जेते सुख दुख है, सो सब पुद्गल सागै,
मैं जब अपनो रूप विचारो, तब ये सब दुःख भागै॥२॥

[(१) यहाँ भी कहा है कि भेदज्ञान से ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है और उसका ज्ञान स्वयं को होता है। (२) कर्म-संयोग-संयोगीभाव सब आते-जाते हैं, वह निश्चयनय से पुद्गल स्वरूप है। (३) परपदार्थ को इष्ट-अनिष्ट मानने से सुखी-दुःखी होते थे। (४) अब ये दोनों सुख-दुःख औपाधिक भाव है, ऐसा जाना। (५) अपने स्वरूप के विचार से दुःख पलायन कर गया, आत्मिक सुख भूमिकानुसार प्राप्त हुआ। इस तरह पाँच सिद्धांत सिद्ध हुए।]

भगवान ने ज्ञानी को सब व्यवहार छोड़ने की आज्ञा की है, ऐसा श्री अमृतचंद्राचार्य समयसार, गाथा १७१, कलश नंबर १७३ में कहा है कि—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदभी निष्कम्पयाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतो धृतिम्॥१७३॥

अर्थ—आचार्यदेव कहते हैं कि—सर्व वस्तुओं में जो अध्यवसान होते हैं, वे सब (अध्यवसान) जिनेन्द्र भगवान ने पूर्वोक्त रीति से त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिये हम यह मानते हैं कि 'पर जिसका आश्रय है, ऐसा व्यवहार ही सम्पूर्ण छुड़ाया है।' तब फिर, यह सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चय को ही निश्चलतया अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनस्वरूप निजमहिमा में (आत्मस्वरूप में) स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ?

भावार्थ—जिनेन्द्रदेव ने अन्य पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाये हैं। इससे यह समझना चाहिये कि यह समस्त पराश्रित व्यवहार ही छुड़ाया है। इसलिये आचार्यदेव ने शुद्धनिश्चय के ग्रहण का ऐसा उपदेश दिया है कि 'शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो'। और, 'जबकि भगवान ने अध्यवसान छुड़ाये हैं, तब फिर सत्पुरुष निश्चय को निश्चलतापूर्वक अंगीकार करके स्वरूप में स्थिर क्यों नहीं होते ?—यह हमें आश्चर्य होता है,'' यह कहकर आचार्यदेव ने आश्चर्य प्रगट किया है॥१७३॥ (क्रमशः)

सुख के उपाय के प्रारंभ में भी

प्रज्ञाछैनीरूपी भेदज्ञान कारण है

[श्री समयसार, मोक्ष अधिकार, गाथा २९४ पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

''छेदन करो जीव बंध का तुम नियत निज निज चिह्न से।
प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक् हो जाय हैं''॥२९४॥

अब शिष्य प्रश्न पूछता है कि—

हे प्रभु! किस साधन द्वारा आत्मा को और रागादि बंधभाव को भिन्न किया जा सकता है? अर्थात् कर्म के निमित्त से जो औपाधिक भाव होते हैं, उनको भिन्न करने का साधन क्या है?

श्रीगुरु कहते हैं कि:—

आत्मा और रागादिरूप बहिर्वृत्तियों को भिन्न करनेरूप कार्य में कर्तृत्व का अधिकार आत्मा का है। शरीरादि तो जड़ हैं, वे तो भिन्न हैं, उनके आश्रय से तो धर्म नहीं है, किंतु दया, दान, पूजा, भक्ति आदि शुभभाव से भी धर्म नहीं होता। पुण्य और धर्म दोनों भिन्न-भिन्न हैं। निश्चय धर्म की शुरुआत न हो तो पुण्य को 'धर्म' उपचार से भी नहीं कहा जाता। आत्मा और विकार को भिन्न करनेरूप कार्य में तो आत्मा कर्ता है, निमित्त की ओर का पक्ष तथा आश्रय छोड़े बिना धर्म नहीं होता। जिसको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना है तथा उसके फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त करना है, उसे प्रथम से ही रागादि को पृथक् करनेरूप कार्य करना चाहिये।

रागादि से पृथक् होने के लिये वास्तविक साधन संबंधी विचार गहराई से किया जाये तो आत्मा के अतिरिक्त अन्य करण का अभाव है। व्रतादि शुभराग है, वह आत्मा को भिन्न करने में साधन नहीं है। कहीं राग को साधन कहा हो तो वह अभूतार्थ नय से कहा है।

साधन का कथन दो प्रकार से है किंतु साधन दो प्रकार के नहीं हैं; जिसप्रकार मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से है, किंतु मोक्षमार्ग दो नहीं हैं।

कर्ता आत्मा से करण अर्थात् साधन भिन्न नहीं हो सकता है। अपने से पृथक् साधन का अभाव है। राग आत्मा से भिन्न भाव है, तीर्थंकरगोत्र के बंध का भाव भी आत्मा के लिये साधन नहीं है।

कोई जीव भगवान की पूजा, यात्रा आदि को साधन कहते हैं, किंतु वह तो शुभभाव है,

इसलिये वह सच्चा साधन नहीं है। राग भी साधन और स्वभाव भी साधन, ऐसा अनेकांत नहीं होता। स्वभाव साधन है तथा रागादि साधन नहीं है, उसका नाम अनेकांत है।

अपने से भिन्न साधन का अभाव होने से स्वसन्मुख ज्ञान की दशा–भगवती प्रज्ञा ही छेदन स्वभाववाला करण / साधन है।

अज्ञानी राग को साधन कहते हैं किंतु जिससे पृथक् होना है, उसे साधन कैसे कहा जायेगा ? नहीं कहा जा सकता।

स्वरूप की साधना के लिये राग के साधन की आवश्यकता नहीं है। जो ज्ञान की दशा आत्मा की ओर उन्मुख होती है, वही साधन है, प्रज्ञा ही छेदन स्वभाववाला करण है, दूसरा कोई करण नहीं है।

प्रज्ञा द्वारा आत्मा तथा विकार का पृथक्त्व होने पर ज्ञान की दशा में भिन्नपना अवश्य भासित होता है।

प्रश्न—राग का लक्ष्य छोड़ने में आत्मा का कर्तापना है ?

उत्तर—राग हुआ, उसको नष्ट क्या करना ? तथा जो राग हुआ ही नहीं, उसको भी नष्ट कैसे करना ? लेकिन चैतन्य के ऊपर लक्ष गया, उसको राग की ही उत्पत्ति नहीं हुई, उसने राग को छेदा–नष्ट किया – ऐसा कहा जाता है। प्रज्ञारूपी करण द्वारा ही आत्मा और बंध पृथक् किये जाते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि—भगवान आत्मा चेतक और राग–विकल्प चेत्य है—परज्ञेय है। भगवान आत्मा उसको जाननेवाला है, ऐसे चेत्य–चेतक भाव द्वारा अत्यंत निकटता के कारण आस्रवतत्त्व और आत्मतत्त्व एकरूप अनुभव में आते हैं, उसको वास्तव में किसप्रकार छेदा जा सकता है ?

ऐसे प्रश्न का समाधान श्री आचार्यदेव करते हैं—मोक्ष अर्थात् बंधन से मुक्त होना अथवा अपनी परिपूर्ण पवित्र दशा का प्रगट होना।

आत्मा चेतक है, राग–द्वेष के भाव चेत्य हैं, उन दोनों का एकत्व भासित होता है तो उन दोनों को भिन्न किसप्रकार किया जाये ? ऐसी जिसे जिज्ञासा हुई है, उस शिष्य का प्रश्न है।

भगवान आत्मा चैतन्यचमत्कार ज्ञायकस्वभावी है और क्रोधादि भाव, वह बंधस्वभावी है। बंधतत्त्व और ज्ञायकतत्त्व दोनों एक नहीं है। जिसप्रकार खान में पत्थर की संधि में सुरंग लगाने से लाखों मन पत्थर अलग–अलग हो जाता है, उसीप्रकार ज्ञायकभाव तथा दया, दान आदि के भावों

की सूक्ष्म संधि में प्रज्ञारूपी छैनी सावधानी से लगाने पर बंध को छेदा जा सकता है, स्वोन्मुख होने से राग के परिणाम उससे भिन्न हो जाते हैं। यह धर्म की क्रिया है।

लोग शरीर की क्रिया से धर्म मानते हैं किंतु आत्मा में शरीर है ही नहीं तो फिर उससे धर्म किसप्रकार होगा ?—नहीं होगा।

जीव जब तक भेदविज्ञान द्वारा स्वभावोन्मुख नहीं होता, तब तक स्वभाव की प्राप्ति नहीं होती। आचार्यदेव कहते हैं कि—अंतर्मुख परिणमन करती हुई प्रज्ञारूपी क्रिया द्वारा आत्मा और राग भिन्न हो जाते हैं, ऐसा हम जानते हैं। ऐसा छद्मस्थ मुनि पंचमकाल के संतों का कथन है, केवलज्ञानी को पूछने के लिये नहीं जाना पड़ता।

लोगों को बाहरी बातों में, शुभराग और व्यवहार की क्रिया में आनंद आता है और इसलिये कहते हैं कि ऐसी बातें सुनने से व्यवहार और शुभभाव में की सावधानी नष्ट हो जाती है तो उसको ज्ञानी कहते हैं—ऐसा समझने से व्यवहार की रुचि नष्ट हो जायेगी तो क्या बिगड़ेगा ? पराश्रय के स्थान में स्वाश्रय होगा—निश्चय की रुचि होगी। नित्य अकषाय ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से ही लाभ होता है, ऐसी दृढ़ता में पुण्य का निषेध वर्तता है, फिर भी भूमिकानुसार पुण्य का भाव आता है।

पुण्य से धर्म माननेवाला मिथ्यादृष्टि जीव सातावेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति १५ कोडाकोडी सागरोपम की बाँधता है, किंतु त्रस की-उत्कृष्ट सिथति तो दो हजार सागरोपम की है। इसलिये इतनी बड़ी स्थिति को भोगने का कोई स्थान नहीं है, किंतु उसकी दृष्टि विकार के ऊपर होने से शुभ पलटकर अशुभ हो जायेगा तथा पुण्य की १५ कोडाकोडी सागर की स्थिति तोड़कर एकेन्द्रिय में चला जायेगा।

सम्यग्दृष्टि को कभी पुण्य की स्थिति अंत: कोडाकोडी सागरोपम की बँधती है; मिथ्यादृष्टि को पुण्य की स्थिति अधिक बँधती है। कर्म की स्थिति तो संसार की स्थिति है। शुभभाव में तुझे क्या लाभ है, भाई ? यहाँ तो कहते हैं कि शुभभाव का और आत्मा का कोई संबंध नहीं है। यहाँ दोनों को भिन्न करना है, इसलिये शुभभाव वह साधन नहीं है।

निमित्त देखकर शुभभाव को व्यवहारसाधन कहा जाता है किंतु वास्तव में वह साधन नहीं है।

विकल्प उठता है, वह बंध का लक्षण है तथा स्वभाव में एकाकार होना, वह चैतन्यस्वभावी आत्मा का स्वलक्षण है। आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, वह अन्य द्रव्यों से मिश्रित नहीं है, चैतन्य दूसरे द्रव्यों में नहीं है।

आत्मा का चैतन्य लक्षण, चैतन्य गुण में व्याप्त होकर प्रवर्तन करता है। वह सहवर्ती ज्ञानगुण है क्योंकि ज्यों का त्यों रहता है तथा निवृत्त होता हुआ जिस-जिस पर्याय (भाव) को ग्रहण करता है अर्थात् पूर्व पर्याय से निवृत्त होता हुआ नयी पर्याय को ग्रहण करके निवृत्त होता है; (नयी पर्याय को ग्रहण किये बिना निवृत्त हो, ऐसा नहीं बनता।) यहाँ ज्ञान की पर्याय की बात है, विकार की बात नहीं है।

आत्मा का चैतन्य लक्षण ज्यों का त्यों रहता हुआ स्थित है तथा नयी पर्याय को ग्रहण करता हुआ, पुरानी पर्याय से निवृत्त होता हुआ उसका उसी में (गुण-पर्याय में) प्रवर्तन करता है—निवृत्त होता है।

यह मूलमार्ग जिसे श्रवण करने को नहीं मिलता, विचार करने का अवसर नहीं आता, उसे सम्यग्दर्शन होगा कहाँ से ? होगा ही नहीं। तेरी अज्ञानता की भी महिमा ऐसी है कि यदि अशुद्धता को पकड़ता है तो छोड़ता नहीं, जिसप्रकार चींटा टूट जाने पर भी पकड़ नहीं छोड़ता।

सर्वज्ञ भगवान ने पराश्रयरूप व्यवहार का विधान कहा ही नहीं है; भगवान ने तो चारों अनुयोगों में अपने चैतन्यस्वभाव की अनुभूति का ही विधान कहा है।

साथ में रहनेवाले गुण और क्रम से प्रवर्तन करनेवाली पर्यायें, वह सब आत्मा है, ऐसा लक्षित करना चाहिये—लक्षण से पहिचानना चाहिये, क्योंकि आत्मा चैतन्यलक्षण से लक्षित है, रागलक्षण से लक्षित नहीं है। यदि आत्मा का लक्षण राग होता तो वह नित्य साथ में रहना चाहिये, किंतु वैसा नहीं बनता। पुण्य-पाप की पर्यायें, वह बंधतत्त्व है, वे पर्यायें वास्तव में आत्मा की नहीं है।

तथा वे कर्म से भी नहीं हुईं, वे तो पर के लक्ष्य से हुये औपाधिकभाव हैं। भगवान ने कहा है कि तेरा ज्ञानस्वरूप अंतर में पड़ा है, वही तेरा शरण है, बाह्य में कहीं भी शरण नहीं है, पवित्रता को प्राप्त करनेवाला तथा अपवित्रता का नाश करनेवाला आत्मा स्वयं ही मंगलस्वरूप है।

सहवर्ती ज्ञान तथा क्रमवर्ती पर्यायों के साथ चेतना का अविनाभावपना होने से चिन्मात्र आत्मा है—ऐसा निश्चय करना, वही आत्मा का नियत स्वलक्षण है। अब बंध के स्वलक्षण के विषय में कहा जाता है।

बंध का लक्षण आत्मद्रव्य से भिन्न है। व्यवहाररत्नत्रय भी आत्मद्रव्य से भिन्न है, वह राग लक्षण से लक्षित है। पूर्ण वीतराग न हो, तब तक बीच में व्यवहाररत्नत्रय आता है, तथापि वह बंधभाव है, वह चैतन्यलक्षण से लक्षित नहीं होता। भगवान की पूजा, यात्रा दया, दान आदि का

भाव, वह वीतरागभाव नहीं है, वे सब शुभराग हैं, उनमें धर्म मानना, वह मिथ्यात्व है।

दया-दानादि के भावों का कर्तव्य मेरा तथा उनसे मुझे धर्म होगा—ऐसा माने तो वह मिथ्यात्व है, वह बंध का लक्षण है; इसलिये आत्मा के साथ रागादि साधारणपना नहीं रखते, एकरूप भासित नहीं होते, क्योंकि वे नित्य चैतन्य चमत्कार से भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं।

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का निधान है, उसका और राग में एकत्व भासित नहीं होता। एक अनाकुलता और दूसरी आकुलता, दोनों एक नहीं हैं; यदि दोनों एक हों तो अलग नहीं हो सकते।

तथा जितना चैतन्य अर्थात् ज्ञातास्वभाव आत्मा की समस्त पर्याय में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है, उतने रागादि प्रतिभासित नहीं होते। उन दोनों का भिन्नत्व जिसे प्रतिभासित हुआ, उसे अल्प काल में अवश्य मोक्ष होता है।

यह धर्म की क्रिया है। तेरी शुद्धता और आनंद की जाति, तेरी पवित्रता की महिमा वाणी से नहीं कही जा सकती। ऐसा आत्मा, रागादि वृत्तियों में एकाकार होकर पड़ा है, वह संसार है।

आत्मा में जितना चैतन्य का प्रसार भासित होता है, उतना रागादि का नहीं होता। जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ चैतन्य के प्रकाश का पुंज है; राग में चैतन्य के प्रकाश का तथा जागृत भाव का अंश नहीं है। आत्मा की समस्त पर्यायों में रागादि प्रतिभासित नहीं होते; इसलिये राग का आश्रय छोड़ दे। चैतन्य के आश्रय से आत्मा की शुद्धता का लाभ हो सकता है। जहाँ ज्ञान उत्पन्न हो, वहाँ राग उत्पन्न होता है। उनके क्षेत्र-काल एक होने पर भी भाव दो हैं, एक मलिन, दूसरा निर्मल। चेत्यचेतक भाव अर्थात् जाननेयोग्य ज्ञेयभाव और जाननेवाला ज्ञायकभाव—इन दोनों की (-ज्ञेय-ज्ञान की) अति निकटता के कारण ही रागादि चैतन्य के साथ उत्पन्न होते हैं किंतु एक वस्तुपने के कारण नहीं। राग, आस्रवरूप है—बंधरूप है; भगवान आत्मा तो अबंधस्वभावी है। सूक्ष्म राग अपने कारण से उत्पन्न होता है और ज्ञायक उसी समय उसे जानता है, लेकिन दोनों वस्तुएँ भिन्न हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि—तेरा स्वतंत्र स्वभाव राग की रुचि द्वारा पर में उलझ गया है, आकुल-व्याकुल हो गया है। रागादि बंधस्वरूप है; भगवान आत्मा अबंधस्वरूपी है, वे दोनों वस्तुरूप से एक नहीं हैं। दोनों की उत्पत्ति एक साथ दिखाई देती है किंतु वह एक वस्तुपने के कारण नहीं, वह तो ज्ञेय-ज्ञायकपने के कारण है। जैसे दीपक द्वारा प्रकाशित होनेवाले घटपटादि पदार्थ, दीपक के प्रकाश की विशेष शक्ति को प्रसिद्ध करते हैं; उसीप्रकार चैतन्यवस्तु ध्रुव अनादि-

अनंत है; राग, वह अज्ञान है, उसमें जागृत भाव का अंश नहीं है। रागादि, आत्मा द्वारा जानने में आते हुए आत्मा के चेतकपने को प्रकाशित करते हैं, वे चैतन्य के विकासरूप सामर्थ्य की प्रसिद्धि करते हैं; राग की प्रसिद्धि नहीं करते। ज्ञान ने ज्ञान को जाना, ज्ञान ने राग को जाना, ज्ञान स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्यवाला तत्त्व है। आत्मा, रागादि को जानने से अपने ज्ञायकस्वभाव की प्रसिद्धि करता है।

राग और चैतन्य को भिन्न करे, वह वीतराग मार्ग है। बंध तथा अबंधस्वरूप को जाननेवाला ज्ञान तो ज्ञान की विशाल शक्ति की प्रसिद्धि करता है। जैसे कि—क्रोध हुआ, तब ज्ञायक ने जाना कि यह क्रोध है, उसमें ज्ञायक की प्रसिद्धि है। क्रोध ज्ञेय है, उसको जानने की शक्ति ज्ञान की है, इसमें ज्ञाता की स्व-परप्रकाशक शक्ति की प्रसिद्धि है। ज्ञान स्वयं प्रसिद्धि प्राप्त करता हुआ ज्ञायक को प्रसिद्ध करता है।

ज्ञानी को व्यवहार आता है, लेकिन उसमें व्यवहार की प्रसिद्धि नहीं है, किंतु ज्ञान की प्रसिद्धि है।

जिस जीव ने इस चैतन्यस्वरूप आत्मा की बात भी प्रसन्नचित्त से श्रवण की है, वह भव्य पुरुष भविष्य में होनेवाली मुक्ति का अवश्य अधिकारी होता है।

मैं एक ज्ञाता-दृष्टा प्रकाशस्वरूप हूँ, उसमें ज्ञात होनेवाला राग प्रसिद्ध नहीं होता परंतु अबंध परिणाम प्रसिद्ध होता है, अबंधभाव को प्राप्त हुआ ज्ञान, अबंधभाव को प्रसिद्ध करता है।

व्यवहार परज्ञेय है; स्वज्ञेय (आत्मा) तो ज्ञानस्वरूप है। इसप्रकार आत्मा को बंध परिणाम से भिन्न करने पर वह अबंधपने को प्राप्त होता है। अबंधपना, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप है।

ऐसा होने पर भी उन दोनों की अत्यंत निकटता के कारणमात्र ज्ञेय-ज्ञायकपना होने पर अपने को भूलकर भेद संभावनारूप भेदज्ञान का अभाव होने से अज्ञानी को अनादि से पर में एकत्व का भ्रम है, उसके कारणरूप यहाँ भेदसंभावनारूप विवेक का अभाव कहा है, किंतु किसी पर को कारण नहीं कहा; कर्म की तीव्रता के कारण भ्रम होता है, ऐसा नहीं कहा है।

अज्ञानी को हित-अहित, स्व-पर का भेद नहीं दिखता, इसलिये शुभ या अशुभभाव में एकत्व का व्यामोह है, वह व्यामोह पर के कारण नहीं है। भूल स्वयं की है, इसलिये उसे दूर भी स्वयं कर सकता है; उस व्यामोह (भ्रम) का छेदन प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य होता है। ●●

नित्य चैतन्य स्वभाव के आश्रयपूर्वक

अनित्य भावना

(श्री शुभचंद्राचार्यदेव)

नित्य विज्ञानघन चिदानंदमय इस आत्मा की महिमा बताने के लिये माने हुए वैभव की अनित्यता बतलाते हैं।

इस जगत में जिसे ऐश्वर्य-वैभव मानते हैं, वह देखने में तो मोहीजनों को अत्यंत सुंदर दिखता है, किंतु देखते-देखते ही बादलों के समान विलीन हो जाता है।

जिसप्रकार नदी का प्रवाह बहता चला जाता है, और वह पुनः लौटकर नहीं आता, वैसे लौकिक विभूति की प्राप्ति हुई और नष्ट हो गई, पुनः उसकी प्राप्ति नहीं होती। यह प्राणी मोह से इष्ट-अनिष्ट मानकर वृथा ही हर्ष-विषाद करता है। कदाचित् नदी का प्रवाह लौट भी आये, लेकिन मनुष्यों का गया हुआ रूप, बलादि तथा धर्म प्राप्त करने योग्य अवसर पुनः लौटकर नहीं आते। यह प्राणी व्यर्थ ही अन्य को आधार-शरण मानकर आशाएँ बाँधता रहता है। आयु और यौवन अंजुली के जल समान तथा पत्ते पर पड़े हुए जल बिन्दु के समान है। यह प्राणी वृथा शरीरादि को स्थायी रखने की इच्छा करता है।

मनोज्ञ विषयों का संयोग भी स्वप्न के समान है, उनमें ममत्व होने से जीव अपना सर्वस्व खो बैठता है। महर्षियों ने कुल, कुटुम्ब, बल, अलंकार, धनादिक को क्षणभंगुर बादलों के समान कहा है। यह मूढ़ प्राणी व्यर्थ ही उनमें नित्यता की बुद्धि करता है।

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी के विहार और

तीर्थयात्रा समाचार

भींवड़ी (थाना)—पूज्य स्वामीजी सहित विशाल यात्री संघ की श्री कुन्दकुन्द धाम पोन्नूर क्षेत्र की यात्रा महान आनन्द उत्सव, भक्ति, अभिषेक, पूजन सहित तारीख २७-१-६४ को सम्पन्न हुई। सबका विस्तृत वर्णन आगामी अंक में देंगे, सोनगढ़ में तारीख ५-१-६४ से प्रस्थान करके पूज्य स्वामीजी अहमदाबाद, पालेज, बलसाड होकर भींवड़ी पधारे थे, हरेक स्थान पर उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ था। पालेज में दिगम्बर जैन मंदिर होने से भक्ति पूजानादि कार्यक्रम थे; भींवड़ी में श्री मगनलाल सुंदरजी और उनके सुपुत्र श्री ब्रजलालभाई आदि ने बहुत उत्साहपूर्वक पूज्य स्वामीजी का भव्य स्वागत किया, सारे शहर में बड़ी धूमधाम थी। मंडप में पोन्नूरहिल की रचना थी, बम्बई आदि से हजारों मेहमान पधारे थे और नवकारशी भोज में सभी जैन समाज पधारे थे, पूना, सतारा १-१ दिन ठहरकर बाहुबली (कोल्हापुर) में बाहुबली भगवान की भव्य प्रतिमा तथा विशाल समवशरण मंदिर आदि के दर्शन किये, बाद कोल्हापुर, बेलगांव, हुबली, दावनगिर, हुमचा और कुन्दाद्रि (कुन्दगिरी) १-१ दिन ठहरे थे। कुन्दाद्रि पहाड़ महा मनोज्ञ है जहाँ श्री कुन्दकुन्दाचार्य का चरणचिह्न है; समाधिस्थान है, बहुत प्राचीन मंदिर, प्रतिमा, मानस्तंभ और विस्तृत शिलालेख भी हैं। धर्मशाला; डाक बंगला इलेक्ट्रिक वर्तमान में बने हैं। ३/४ रास्ता पहाड़ पर मोटर जाती है, वि० सं० २०१५ में पूज्य कानजी स्वामी सहित यात्रा संघ यहाँ वंदनार्थ आये थे, तब क्षेत्र को दान में बड़ी रकम दी थी उसके द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य के चरण ऊपर मंदिर बन गया है। यहाँ तारीख १७-१-६४ के दिन पूज्य स्वामीजी सहित यात्री संघ ने बड़े उत्साह के साथ वंदन पूजन भक्ति द्वारा परम प्रसन्नता प्रगट की बाद मुडबिद्रि, हासन होकर श्रवणबेलगोला-बाहुबली भगवान तीर्थधाम में सब पहुँचे। बम्बई आदि से बहुत भक्तजन आ पहुँचे थे, करीब ८०० उपरांत संख्या थी। शुद्ध जल से कलशाभिषेक, वंदन, पूजन बड़े ठाट-बाट से हुआ, प्रथम कलश श्री खेमचंदभाई जे. शेठ द्वारा हुआ था। दो दिन उत्सव चालू रहा बाद रास्ता में एक दिन मैसूर ठहरे, वहाँ पूज्य स्वामीजी का बड़ा भारी स्वागत हुआ था, तारीख २६-२७ पोन्नूरहिल में भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य के चरण कमल का स्वामीजी के साथ सभी ने परम हर्ष उत्साहसहित वंदन किये; बाद अभिषेक हुआ। उसमें छह हजार देकर जयपुर निवासी श्री पूरणचंदजी गोदीका ने अभिषेक

किया और मद्रास से मुख्य कार्यकर्ता श्री भायलाल घेलाभाई ने सात हजार रुपया देकर अपने परिवार सहित आचार्य-चरणों पर अभिषेक किया। अन्य भाईयों ने भी भक्ति प्रभावनावश शक्ति अनुसार दान दिया, कन्नड़ प्रान्त की जैन समाज अच्छी संख्या में एकत्रित थी, दक्षिण में खर्च करने के निमित्त २५ हजार का चंदा हुआ है।

★

वैराग्य समाचार

श्री सब्जीदेवी (धर्मपत्नी लाला हुकमचंदजी) दिल्ली का स्वर्गवास तारीख ३१-१-६४ के दिन पूज्य स्वामीजी के प्रवचन टेप रील सुनते-सुनते हो गया। आप बड़ी धर्मात्मा थीं, धर्म प्रभावना के कार्य में आपकी बड़ी लगन थी। आप दानशीला थीं, बारम्बार सोनगढ़ आकर लाभ लिया करती थीं। आपकी आत्मा पवित्र जैन धर्म की साधना पूर्ण करे ऐसी जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है। उनके परिवारजनों से संवेदना है। —प्रकाशक

★

पोन्नूर तीर्थ धाम की यात्रा के बाद पूज्य स्वामीजी के विहार का कार्यक्रम लगभग निम्नप्रकार रहेगा

१—पोन्नूर से तारीख २८-१-६४ (माघ सुदी १५) पालमनेर; बाद-टुम्कूर, चित्तद्रुग, त्रिमलकोप, गोंटूर, कराड, पूना, नासिक, चांदूर होकर—

२—जलगाँव (तारीख ६-२-६४ तथा ७-२-६४) वहाँ से पलासनेर, सुसारी, पीपलोद, अहमदाबाद, सुरेन्द्रनगर होकर—

३— राजकोट (तारीख १३-२-६४ फागुन बदी अमावस से तारीख २४-२-६४ फागुन सुदी १२) वहाँ फागुन सुदी ३ को समवसरण मंदिर तथा मानस्तंभ का शिलान्यास। वहाँ से जारोवरनगर होकर—

४— रखियाल (तारीख २६-२-६४ से १-३-६४ फागुन सुदी १४ से प्रथम चैत्र बदी तीज) इन दिनों में यहाँ बड़ा भारी उत्सव और मेला होगा नये जिनमंदिर की वेदी प्रतिष्ठा का मुहूर्त प्रथम चैत्र बदी ३। वहाँ से दहेगाम (तारीख २ तथा ३), सोनासण (तारीख ४), फत्तेपुर जहाँ श्री बाबूभाई मेहता रहते हैं (तारीख ५ से ८), तलोद (तारीख ९-१०), बढ़वाण शहर (तारीख ११-१२) जेतपुर, तारीख १३।

५—पोरबंदर (तारीख १४ से २१ प्रथम चैत्र सुदी १ से ८), लाठी (चैत्र सुदी ९), सावरकुंडला (चैत्र सुदी १० से दूसरा चैत्र बदी २), आंकड़िया (दूसरा चैत्र बदी ३-४), उमराला (दूसरा चैत्र बदी ५-६), गढड़ा (चैत्र बदी ७-८), पाटी (चैत्र बदी ९), राणपुर (दूसरा चैद्ध बदी १० से १४)।

६—बोटाद (चैत्र बदी अमावस से दूसरा चैत्र सुदी ८, वहाँ जिनमंदिर में वेदी प्रतिष्ठा मुहूर्त चैत्र सुदी ८) यहाँ भी महोत्सव और मेला होगा।

७—अहमदाबाद (चैत्र सुदी ९ से चैत्र सुदी १३) [चैत्र सुदी १४ से वैशाख बदी पंचमी तक महावीर जयंती बड़े ठाट-बाट से मनायेंगे] अहमदाबाद बाद बम्बई जाने में मार्ग में सूरत पालेज आदि—

८—**वैशाख बदी ६ बम्बई नगरी में प्रवेश** [बम्बई में वैशाख सुदी २ को हीरक जयंती महोत्सव; तथा दादर जिनमंदिर की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का मुहूर्त वैशाख सुदी ११ का है।]

बम्बई में दादर विभाग में श्री कहान नगर जैन सोसायटी में बड़ा भव्य जिनमंदिर तथा समवशरण बन चुका है, समवशरण की सामग्री इतनी सुंदर बनी है कि देखते ही बनता है, जिसकी फिल्म ली गई है। यहाँ जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव-८ दिन का होगा, बड़ी तैयारी हो रही है।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार शास्त्र	५-०	जैन बाल पोथी	०-२५
प्रवचनसार	प्रेस में	छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०-१५
नियमसार	५-५०	छहढाला (नई सुबोध टी.ब.)	०-८७
पंचास्तिकाय	४-५०	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तीसरी आवृत्ति)	५-०	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१-८५
स्वयंभू स्तोत्र	०-६०	जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१-४५
मुक्ति का मार्ग	०-६०	अपूर्व अवसर प्रवचन और	
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५	श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा	०-८५
समयसार प्रवचन भाग २	४-७५	भेदविज्ञानसार	२-०
समयसार प्रवचन भाग ३	४-२५	अध्यात्मपाठसंग्रह पक्की जिल्द	५-०
समयसार प्रवचन भाग ४	४-०	'' '' कच्ची जिल्द	२-२५
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]		भक्ति पाठ संग्रह	१-०
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें प्र०	१-०	वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
'' ''द्वितीय भाग	२-०	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	०-६०	स्तोत्रत्रयी	०-५०
द्वितीय भाग	०-६०	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-२५
तृतीय भाग	०-६०	'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक चंदा	३-०
श्री अनुभवप्रकाश	०-३५	'' फाईलें सजिल्द	३-७५
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	१-०	शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०-१२
दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन		जैनतत्त्व मीमांसा	१-०
बृ० पूजा भाषा	०-७५		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।